

अगस्त 2020

स्त्रोत

विज्ञान एवं टेक्नॉलॉजी फीचर्स
मूल्य: ₹ 30.00



भविष्य का सूक्ष्मजीव-द्वैषी, अस्वस्थ समाज

21

लॉकडाउन: शहरी इलाकों में जंगली जानवर



25

साबुन के बुलबुलों की मदद से परागण



29

लड़ते-लड़ते मछलियां जीन्स में तालमेल बैठाती हैं



32

डॉल्फिन साथियों से सीखती हैं शिकार का नया तरीका



वर्ग पहेली 191

1		2			3		4	
		5	6					
7						8		
			9		10			
11	12						13	14
			15			16		
17						18		

संकेत :

दाएं से बाएं -

1. दस्त (4)
3. जिसमें से आर-पार दिखाई दे (4)
5. छिपकली, सांप, मगरमच्छ वगैरह का जीव वैज्ञानिक समूह (4)
7. प्रसव में मददगार महिला (2)
8. अनुपजाऊ (3)
9. दस साल की अवधि (3)
11. भूकंप (3)
13. पेट कटी शराब की रात (2)
15. महसूस होने का गुण (4)
17. ऊपर कार में एक ज्यामिति उपकरण है (4)
18. विषपान करने वाले यूनानी दार्शनिक (4)

ऊपर से नीचे -

1. लाल ओलीव रिडले कछुओं का समुद्र तट पर आगमन (4)
2. एक प्रवासी पक्षी (3)
3. पौधा (3)
4. पंखुड़ियों का समूह (4)
6. एक पुराना बड़ा बांध (3)
10. प्राचीन भारत में परमाणु की बात करने वाले (3)
12. चार राग मिलाकर बना चिकित्सक (4)
14. आसमान से गिरता पानी (4)
15. दो प्रजातियों के मिश्रित प्रजनन से उत्पन्न (3)
16. कोशिका में डीएनए यहां रखा होता है (3)



संपादन एवं संचालन
एकलव्य

जमनालाल बजाज परिसर,
जाटखेड़ी, भोपाल - 462026

फोन : (0755) 2977770, 2977771, 72, 73

ई-मेल : srote@eklavya.in, srotefeatures@gmail.com

स्रोत

विज्ञान एवं टेक्नॉलॉजी फीचर्स

अगस्त 2020

वर्ष-14 अंक-08 (पूर्णांक 379)

www.srotefeatures.in, www.eklavya.in

संपादक

सुशील जोशी

सहायक संपादक

प्रतिका गुप्ता

जुबैर सिद्दिकी

आवरण डिज़ाइन

रोहित कोकिल

उत्पादन सहयोग

इंदु नायर, कमलेश यादव
राकेश खत्री

वितरण

ज्ञानक राम साहू

इम्यूनिटी बढ़ाने का नया धंधा: डॉ. सत्यजित रथ से साक्षात्कार	2
कृत्रिम अंगों पर कोरोनावायरस का अध्ययन	8
भविष्य में महामारियों की रोकथाम का एक प्रयास	9
एफडीए ने ट्रम्प की पसंदीदा दवा को नामंजूर किया	10
स्वास्थ्य क्षेत्र की व्यापक चुनौतियां	भारत डोगरा 11
कोविड-19 प्लाज़्मा थेरेपी	12
भविष्य का सूक्ष्मजीव-द्वैषी, अस्वस्थ समाज	डॉ. सुशील जोशी 13
महामारी और गणित	दीपक थानवी 16
जॉर्ज फ्लॉयड की शव परीक्षा की राजनीति	17
कोविड-19: नस्लवाद पर वैज्ञानिक चोला	जुबैर सिद्दिकी 19
लॉकडाउन: शहरी इलाकों में जंगली जानवर	डॉ. डी. बालसुब्रमण्यन 21
हमारा शरीर है सूक्ष्मजीवों का बगीचा	कालू राम शर्मा 23
छरहरे बदन का जीन	24
साबुन के बुलबुलों की मदद से परागण	25
डायनासौर के अंडों का रहस्य सुलझा	26
मौसम पूर्वानुमान की समस्याएं	नरेंद्र देवांगन 27
लड़ते-लड़ते मछलियां जीन्स में तालमेल बैठाती हैं	29
बहु-कोशिकीय जीवों का एक-कोशिकीय पूर्वज	डॉ. डी. बालसुब्रमण्यन 30
डॉल्फिन साथियों से सीखती हैं शिकार का नया तरीका	32
घोड़ों के पक्षपाती चयन की जड़ें प्राचीन समय में	33
खतरनाक डॉयाक्सीन के बढ़ते खतरे	डॉ. ओ. पी. जोशी 34
संक्रमण-रोधी इमारतें और ऊर्जा का उपयोग	जुबैर सिद्दिकी 35
एक झींगे की तेज़ गति वाली आंखें	37

सदस्यता शुल्क

300 रुपए

एक प्रति 30 रुपए

चंदे की रकम कृपया एकलव्य,
भोपाल के नाम बने ड्राफ्ट या
मनीऑर्डर से भेजें।

स्रोत में छपे लेखों के विचार लेखकों के हैं। एकलव्य का इनसे सहमत होना आवश्यक नहीं है। यह मासिक संस्करण स्वयंसेवी संस्थाओं, सरकारी संस्थाओं व पुस्तकालयों, विज्ञान लेखन से संबद्ध तथा विज्ञान व समाज के रिश्तों में रुचि रखने वाले व्यक्तियों के विशेष अनुरोध पर स्रोत के साप्ताहिक अंकों को संकलित करके तैयार किया जाता है। यहां प्रकाशित सामग्री का उपयोग गैर व्यावसायिक कार्यों के लिए करने हेतु किसी अनुमति की आवश्यकता नहीं है। स्रोत का उल्लेख अवश्य करें।

इम्यूनिटी बढ़ाने का नया धंधा

डॉ. सत्यजित रथ से साक्षात्कार

आजकल इम्यूनिटी को लेकर बहुत चर्चा है। काढ़ों, विभिन्न इम्यूनिटी उत्पादों के अलावा लगभग सारे पोषण-पूरकों में इम्यूनिटी शब्द जुड़ गया है। सारे मामले को समझने के लिए स्रोत ने प्रतिरक्षा विज्ञान विशेषज्ञ डॉ. सत्यजित रथ के सामने कुछ सवाल रखे। प्रस्तुत है उन सवालों के जवाब डॉ. रथ की जुबानी...। सवालों का जवाब देने से पहले डॉ. रथ ने समस्या की पृष्ठभूमि स्पष्ट की।

आजकल भारत की सड़कों-गलियों का आम नज़ारा देखिए। हम दुकानों पर भीड़ लगा रहे हैं, धक्का-मुक्की कर रहे हैं और मास्क नहीं पहन रहे हैं। कभी-कभार मास्क को गले में पट्टे की तरह ज़रूर डाल लेते हैं। हम उन बातों पर बिलकुल कान नहीं दे रहे हैं जो कोविड-19 के लिए ज़िम्मेदार वायरस SARS-CoV-2 के प्रसार को थाम सकती हैं और गंभीर रूप से बीमार लोगों की संख्या को कम कर सकती हैं। शारीरिक (सामाजिक नहीं) दूरी, नाक-मुंह को ढंकना और बार-बार साबुन से हाथ धोना इस महामारी के दौरान कुछ सामाजिक ज़िम्मेदारियां हैं, जिन्हें हम नहीं निभाते।

इसकी बजाय हम क्या करते हैं? हम डरे हुए हैं कि 'हम', 'मैं' कोरोना के संपर्क में आ गया तो बीमार होकर मर जाऊंगा। यानी हम संसर्ग (छूत) के विचार को उसके सामुदायिक संदर्भ से काटकर एक व्यक्तिगत भय में बदल देते हैं। हम हर उस चीज़ का 'शुद्धिकरण' करते हैं जिसे हम छूते हैं (जिसकी हमारे यहां परंपरा भी रही है), और हम खुद को और अपने साज़ो-सामान को ऐसी जादुई चीज़ों से नहलाते हैं, जो हमें व्यक्तिगत रूप से 'सुरक्षित' रखेंगी।

हमने निर्णय कर लिया है कि बाज़ार हमें बचाएगा। हमने निर्णय कर लिया है कि हममें से प्रत्येक को खुद को बचाना है और इसके लिए हमें बाज़ार से कोई जादू खरीद लेना है। हमने तय किया है कि 'औरों' या 'अन्य लोगों' को बचाना हमारी ज़िम्मेदारी नहीं है। हमने निर्णय किया है कि वास्तव में 'अन्य लोग' ही इस समस्या के लिए ज़िम्मेदार हैं क्योंकि वे गंदे और फूहड़ 'अन्य' हैं जो 'हमारी' तरह

नहीं हैं। हम सचमुच 'हममें' से उन संक्रमित 'बदनसीबों' की परवाह करने की बजाय उनको बहिष्कृत कर देते हैं। यह वह पृष्ठभूमि जिसमें हमें 'इम्यूनिटी वर्धकों' की महामारी पर गौर करना होगा, जो हमें घेर रही है - जीवन शैली सम्बंधी उपदेशों के रूप में भी और उत्पादों के रूप में भी। तो कुछ सवालों के जवाब देकर बात को आगे बढ़ाते हैं।

सवाल - क्या इम्यूनिटी नाम की कोई एक सामान्य चीज़ है? या क्या समस्त इम्यूनिटी किसी सूक्ष्मजीव के लिए विशिष्ट होती है? आप इम्यूनिटी को मात्रात्मक रूप में कैसे परिभाषित करेंगे?

जवाब - सबसे पहले तो यह समझ लें कि शरीर का कोई एक हिस्सा नहीं है जिसे इम्यूनिटी कहा जा सके। वास्तव में शरीर के कई हिस्से कई अलग-अलग ढंग से सूक्ष्मजीवों द्वारा प्रस्तुत चुनौती की प्रतिक्रिया देते हैं, और इन सारे किरदारों के सामंजस्य का परिणाम होता है इम्यूनिटी। ये सारे किरदार अपना-अपना काम करते हैं। यानी इम्यूनिटी एक जुगाडु परिणाम है जो समन्वय से उभरती है, न कि पहले से निर्धारित कोई योजना होती है जिसे निष्ठापूर्वक क्रियावित किया जाता है।

एक उपमा से शायद मदद मिले। किसी संगीत कार्यक्रम की उपमा से।

सुर बांधने के लिए एक तानपुरा होता है। हो सकता है बीच-बीच में वह थोड़ा ज़ोर से या धीमे बजे और ऐसा होने पर गायक/वादक मुस्कराकर उसका स्वागत करेगा या भवें तान लेगा। थोड़े फेरबदल से वह तानपुरा नाटकीय परिवर्तन पैदा करेगा या माहौल को बरबाद कर देगा।

फिर तबला होता है, जो रफ्तार को पकड़ता है। एक ओर तो वह गायक की गति से तालमेल रखता है लेकिन बीच-बीच में अपना खेल भी दिखाता है। लेकिन इसे हटा दीजिए और संगीत का पूरा परिदृश्य ही बदल जाएगा, चाहे गायक वही रहे।

गायक तो किसी राग की जोड़-तोड़ कर रही है, एक

ऐसे ढांचे पर जो उसके दिमाग में है। तानपुरा सुर का ख्याल रखता है और तबला रफ्तार का। लेकिन दोनों को ही पता नहीं कि गायक क्या कोशिश कर रही है और गायक को भी अंदाज़ नहीं है कि आज की महफिल में क्या सामने आने वाला है। वह तो आगे बढ़ते-बढ़ते जुगाड़ करती है, खुद को सुनती है, तानपुरे, तबले को सुनती है, मौसम और श्रोताओं को सुनती है, परिस्थिति की बारीकियों को सुनती है। राग के अनुशासन के तहत उसका संगीत इन सारे 'उद्दीपनों' से आकार पाता है।

इम्यूनिटी नामक शारीरिक प्रतिक्रिया भी इसी तरह पैदा होती है। एक ही संक्रमण में, कोशिकाएं और अणु अलग-अलग उद्दीपनों को पहचानते हैं और अपने विशिष्ट तरीके से प्रतिक्रिया देते हैं। ये प्रतिक्रियाएं एक-दूसरे में गूँथ जाती हैं, एक-दूसरे को तीव्र-मंद करती हैं, बदलती हैं और जो कुछ उभरता है वह इम्यून प्रतिक्रिया होती है। यह शरीर का एक तरीका है अंदर वाले सूक्ष्मजीव से निपटकर जीवित रहने का।

इनमें से कुछ कोशिकाएं और अणु उद्दीपनों और ट्रिगर्स को पहचानते हैं और उन पर प्रतिक्रिया देते हैं। इनमें से कुछ उद्दीपन कई सारे सूक्ष्मजीवों, वायरसों और बैक्टीरिया में एक जैसे होते हैं। ये अलग-अलग प्रतिक्रियाएं अपने-आप में भी एक किस्म की इम्यूनिटी होती हैं। बहुत बढ़िया नहीं, लेकिन ठीक-ठाक तो होती हैं।

गायक अलग ढंग से प्रतिक्रिया देता है। वह कुछ आजमाइशी स्वरों से शुरू करता है ताकि वह देख सके कि सब कुछ ठीक तरह से चल रहा है और इसके आधार पर वह उस बुनियादी संगीत को आकार देता है, जो वह निर्मित करने वाला है। लेकिन फिर वह आसपास नज़र दौड़ाता है (या अपने अंदर झांकता है) और अपने संगीत को आकार देना शुरू करता है, हौले-हौले लेकिन बढ़ते आत्म-विश्वास और जटिलता के साथ। यह संगीत उस विशिष्ट मौके के लिए, वहां उपस्थित श्रोताओं के लिए और उस स्थान-विशेष के लिए होता है।

शरीर की कुछ कोशिकाएं प्रवेश करने वाले सूक्ष्मजीव के विशिष्ट खंडों को, सिर्फ उस विशिष्ट सूक्ष्मजीव या उसके निकट सम्बंधियों पर उपस्थित आकृतियों को पहचानती हैं। पहचानने के बाद वे प्रतिक्रिया देती हैं, लेकिन प्रत्येक

आकृतिनुमा लक्ष्य को पहचानने वाली कोशिकाओं की संख्या बहुत कम होती है। लिहाज़ा उनकी पहली सार्थक प्रतिक्रिया यह होती है कि वे बार-बार विभाजन करके अपनी संख्या बढ़ाती हैं। और जब उनकी संख्या बढ़ती है और वे परिपक्व होती हैं, तो वे विशिष्ट रूप से उस आकृति (जिसने उन्हें जन्म दिया था) पर केंद्रित कामकाजी प्रतिक्रिया हासिल करके उसका क्रियावयन करती हैं। ये प्रतिक्रियाएं शरीर को सूक्ष्मजीव से निपटने में मदद करती हैं। किसी गायक के समान ही ये कोशिकाएं भी अपनी प्रतिक्रिया को उस मौके, उस स्थान और उस सूक्ष्मजीव के अनुसार आकार देती हैं। वे अनुकूलन करती हैं। लेकिन उन्हें तानपुरा-तबला कोशिकाओं की मदद लगती है ताकि वे अपने परिपक्व होते संगीत के बारे में जटिल निर्णय कर सकें और खुलकर पेश कर सकें।

तो क्या इम्यूनिटी नाम की कोई सामान्य चीज़ है? अपने संघटन में तो नहीं, सिर्फ उसके उभरते प्रभाव के रूप में होती है। क्या सारी इम्यूनिटी किसी सूक्ष्मजीव के लिए विशिष्ट होती है? जवाब हां भी है और नहीं भी। जो प्रतिक्रियाएं मिलकर इम्यूनिटी का निर्माण करती हैं, उनमें से कुछ अन्य की अपेक्षा ज़्यादा विशिष्ट होती हैं। लेकिन वास्तविक इम्यूनिटी तब प्रकट होती है जब ये सब मिलकर काम करते हैं।

सवाल - क्या इम्यूनिटी को नापा जा सकता है? यदि हां, तो कैसे? और यदि नहीं, तो आप ऐसे उत्पादों की बात कैसे कर सकते हैं जो इम्यूनिटी बढ़ाने का दावा करते हैं? क्या कुछ ऐसे रसायन हैं जो प्रामाणिक इम्यूनिटी-वर्धक हैं? और इम्यूनिटी का सामान्य पोषण की हालत से क्या सम्बंध है?

जवाब - हमने यहां जिस तरह की इम्यूनिटी की बात की है, उसे नापेंगे कैसे? ज़ाहिर है, ऐसा कोई इकलौता आसान माप नहीं हो सकता जिसका कोई वास्तविक अर्थ हो। हम यह नाप सकते हैं कि सारे घटक मौजूद हैं या नहीं। अधिकांश लोगों में ये मौजूद होते हैं। हम यह भी मापन कर सकते हैं कि क्या ये घटक एक सामान्य रूप में प्रतिक्रिया व्यक्त करते हैं। अधिकांश लोगों में ये करते हैं। लेकिन ये माप हमें यह नहीं बताएंगे कि क्या वास्तविक इम्यूनिटी उभरेगी। इस बात का अंदाज़ लगाने के लिए हमें यह देखना होगा कि क्या शरीर ने वास्तव में अतीत में

कतिपय विशिष्ट सूक्ष्मजीवों के विरुद्ध प्रतिक्रिया दर्शाई थी। क्या हमें ऐसी विगत इम्यूनैटी के अवशिष्ट प्रमाण मिल सकते हैं? अधिकांश लोगों में मिल सकते हैं।

क्या लोगों के बीच इन मापों में छोटे-मोटे अंतर दिखते हैं? क्या इन अंतरों का विभिन्न सूक्ष्मजीवों के प्रति हमारी प्रतिक्रियाओं में कोई उल्लेखनीय असर दिखता है। हां। लेकिन क्या हम यह भविष्यवाणी कर सकते हैं कि इम्यूनैटी के इन तरह-तरह के मापों में अंतरों का किसी विशिष्ट सूक्ष्मजीव के प्रति हमारी प्रतिक्रिया पर क्या असर पड़ेगा? नहीं। जैसा कि ऊपर संगीत के रूपक में बताया गया था, इसके बारे में अटकल लगाना भी लगभग असंभव है, निश्चित भविष्यवाणी तो दूर की बात है। यह बताना असंभव है कि इनपुट (यानी सूक्ष्मजीव) के कौन-से कारक इम्यूनैटी के परिणाम को बदल देंगे और वह बदलाव क्या होगा। दरअसल, ऐसी परिस्थिति में, यदि हम इम्यूनैटी के एक घटक को 'समृद्ध' करें, 'बढ़ावा दें' तो परिणाम 'अलग' होगा, ज़रूरी नहीं कि वह 'बेहतर' हो या 'बदतर' हो। तबला वादक बदल दीजिए और गायक की आवाज़ महफिल में एक अलग संगीत पैदा करेगी। शायद कुछ लोगों को बेहतर लगे, कुछ को नहीं।

यही हाल इम्यूनैटी के परिणाम का भी होगा जो परिस्थिति-विशेष पर निर्भर करेगा। तो, जी नहीं, हम किसी भी विवेकशील अर्थ में इम्यूनैटी बढ़ाने की बात नहीं कर सकते। और यदि हम सार्थक ढंग से यह बात नहीं कर सकते तो इम्यूनैटी बढ़ाने का दावा करने वाले उत्पादों के बारे में क्या कहा जाए? ऐसे अधिकांश इम्यूनैटी वर्धक उत्पाद दरअसल कुछ नहीं करते, अर्थात् इनका इम्यूनैटी के घटकों पर कोई असर नहीं होता, स्वास्थ्य पर लाभदायक असर की तो बात ही जाने दें।

तो ऐसी स्थिति में हम कह सकते हैं, 'गनीमत है' क्योंकि यदि इन उत्पादों का इम्यूनैटी के घटकों पर सचमुच कोई असर होता, तो वह एक बड़ी समस्या होती। परिणामों को अच्छा या बुरा कहना तो आपके नज़रिए पर है। देखा जाए, तो इनमें से अधिकांश उत्पाद फील-गुड-विज्ञापन वाले उत्पाद हैं जिन पर हम सिर्फ इसलिए भरोसा करते हैं क्योंकि हमने उनका दाम चुकाया है। यह भरोसा सच्चे उपभोगवादी पूंजीवाद के शिकार की निशानी है।

क्या हमें परेशान होना चाहिए कि लोग इन पर भरोसा करते हैं? क्या हमें चिंतित होना चाहिए कि लोग ऐसी चीज़ों पर विश्वास करते हैं जिन्हें अंधविश्वास कहते हैं?

शायद नहीं, हम सबको जीते रहने के लिए, अपने मस्तिष्क की निजता में, तरह-तरह के सहारों की ज़रूरत होती है। लेकिन क्या उपभोगवादी पूंजीवादी ढांचा चिंता का विषय नहीं होना चाहिए जो अनैतिक मुनाफ़ाखोरों को प्रोत्साहित करता है कि वे हमारी हताशाओं से पैसा कमाएं? तो क्या ऐसा कुछ नहीं है जिसे खाकर/पीकर/करके हम अपनी इम्यूनैटी को समृद्ध कर सकें? ज़रूर है। लेकिन वह नहीं है जिसके बारे में हम अब तक सोचते रहे हैं।

कुल मिलाकर, इम्यूनैटी के जिन घटकों की बात हम करते आए हैं वे हमारे शरीर की कोशिकाएं और अणु हैं। शरीर के किसी भी अन्य हिस्से की तरह ये भी तभी विकसित होते हैं और काम करते हैं, जब सूक्ष्म पोषक तत्व और विटामिन्स सहित अच्छा और संतुलित पोषण मिले, जब विषैले पदार्थों से अपेक्षाकृत मुक्त साफ़ कुदरती पर्यावरण हो, जब एक ऐसा समर्थक सामाजिक माहौल हो जिसमें हम काम करें, खेलें, एक-दूसरे के साथ दोस्ताना सम्बंधों में जीएं, और अपने-आप में मूल्यवान महसूस करें। क्या यह ज़रूरी नहीं कि हम सब मिलकर काम करें कि यह सब, सबको, हर जगह उपलब्ध हो सके।

इन बातों पर आम प्रतिक्रिया होती है: ये सब अव्यावहारिक आदर्शवादी बातें हैं। आप तो यह बताइए कि जिस विकट परिस्थिति में हम फंस गए हैं (कोई नहीं कहेगा कि हमने खुद को फंसा लिया है) उसमें इम्यूनैटी को लेकर क्या किया जा सकता है। इस सवाल एकमात्र व्यावहारिक जवाब यह है कि यथासंभव अच्छे से खाएं।

दुख की बात तो यह है कि उपभोक्ता पूंजीवाद हमारे लिए वास्तविक किफायती भोजन से विटामिन और खनिज तत्व प्राप्त करना असंभव बना देता है। हममें से जो लोग इनका खर्च उठा सकते हैं, वे ये चीज़ें पूरक गोलियों के रूप में ले लेते हैं।

ऐसे पूरकों के बारे में भी एक सावधानी रखना ज़रूरी है। हर चीज़ की अति नुकसान कर सकती है। जैसे नमक अच्छा है, किंतु इसकी अधिकता शरीर के लिए समस्याएं पैदा कर सकती है। यही बात विटामिन व खनिज तत्वों पर

भी लागू होती है। यह बात खास तौर से उन चीज़ों के बारे में सही है शरीर जिनका संग्रहण करता है। जैसे विटामिन ए व डी का संग्रहण वसा में होता है। इसलिए सरल पूरकों के मामले में भी अति करना संभव है।

अलबत्ता, शरीर के 'प्रतिरक्षा तंत्र' के संदर्भ में इन सामान्य बातों में भी एक दिलचस्प पेंच है। शरीर के जिन घटकों की प्रतिक्रियाएं अंततः 'इम्यूनोटी' के रूप में प्रकट होती हैं, वे थोड़े विचित्र हैं। कारण यह है कि वे सूक्ष्मजीवों को पहचानकर प्रतिक्रिया देते हैं। सूक्ष्मजीव हमेशा तो शरीर में उपस्थित नहीं होते। विभिन्न सूक्ष्मजीव शरीर में आते-जाते रहते हैं और बार-बार ऐसा करते हैं। और जब वे शरीर में आते हैं, तो सूक्ष्मजीव अचानक पूरे शरीर में नहीं पहुंच जाते। वे शरीर के किसी हिस्से में, त्वचा के किसी बिंदु पर प्रवेश करते हैं। जैसे जहां घाव हो, या नाक में सांस के साथ, खानपान के साथ आंतों में। इस वजह से इम्यूनोटी के घटक ज़बरदस्त यात्री होते हैं। वे हर समय, पूरे शरीर में भटकते रहते हैं, धक्का-मुक्की करते हुए। और ऐसा करते हुए वे लगातार 'ऑफ' और 'ऑन' के बीच डोलते रहते हैं - जब कोई सूक्ष्मजीव न हो तो वे 'ऑफ' रहते हैं और जब वे स्थानीय स्तर पर सूक्ष्मजीव से टकराते हैं तो 'ऑन' होकर प्रतिक्रिया देते हैं। यह कोशिकाओं पर लगातार बदलते दबाव का द्योतक है। तब कोई अचरज की बात नहीं कि प्रतिरक्षा कोशिकाएं इस गहमा-गहमी के जीवन में काफी क्षतियां-चोटें झेलती हैं और मर जाती हैं। इसका मतलब है कि शरीर को नई-नई प्रतिरक्षा कोशिकाएं और अणु बनाने पड़ते हैं (और बनाता भी है)। यह, उदाहरण के लिए, मस्तिष्क की कोशिकाओं से काफी अलग है। मस्तिष्क की कोशिकाएं इतनी जल्दी-जल्दी प्रतिस्थापित नहीं होतीं। लेकिन शरीर का अस्तर बनाने वाली कोशिकाएं भी ऐसी ही होती हैं, जैसे त्वचा की कोशिकाएं या वायु मार्ग, आंतों के अस्तर की कोशिकाएं या लाल रक्त कोशिकाएं जो पूरे शरीर में भटकती रहती हैं और ऑक्सीजन व कार्बन डाईऑक्साइड का परिवहन करती हैं। ये भी लगातार जल्दी-जल्दी प्रतिस्थापित होती हैं।

इसका मतलब है कि लगातार प्रतिस्थापन के लिए पोषण की ज़रूरतें काफी अधिक होती हैं। जैव विकास के लंबे दौर में शरीर में ऐसी क्रियाविधियां विकसित हुई हैं जो

यह सुनिश्चित करती हैं कि भोजन के अभाव के समय भी इन कोशिकाओं का ठीक-ठाक रख-रखाव होता रहे। लेकिन यह बात प्रोटीन और कार्बोहायड्रेट जैसे स्थूल पोषक तत्वों पर ज़्यादा लागू होती है, 'सूक्ष्म पोषक तत्वों' पर नहीं। हम नहीं जानते कि यह फर्क क्यों पैदा हुआ होगा। लेकिन जादुई इम्यूनोटी-बूस्टर औषधियों के प्रवर्तकों के विपरीत हम तो बहुत कुछ नहीं जानते।

अलबत्ता, इम्यूनोटी की इस निजी सम्पत्ति अवधारणा की परीकथाओं से आगे बढ़कर थोड़ी ज़्यादा पेचीदा व दिलचस्प यह बात करते हैं कि कैसे व्यक्ति और समुदाय उन्हें संक्रमित करने वाले सूक्ष्मजीवों के साथ सुरक्षात्मक सामंजस्य बनाते हैं।

सवाल - आप किसी रोगजनक के प्रति इम्यून कैसे हो जाते हैं? क्या ऐसा हर व्यक्ति में होगा? क्या इम्यूनोटी एक से दूसरे व्यक्ति में प्रेषित की जा सकती है? कोई समुदाय इम्यूनोटी कैसे हासिल करता है?

जवाब -हम किसी रोगजनक के प्रति इम्यून कैसे हो जाते हैं? एक उदाहरण लेकर बात करते हैं - जैसे SARS-CoV-2 और कोविड-19। यहां यह ध्यान रखना ज़रूरी है कि मानव शरीर और संक्रमित करने वाले सूक्ष्मजीव की अंतर्क्रिया के बारे में 'लड़ाई' जैसी उपमा का उपयोग न करना बेहतर है। कई बार शरीर किसी वायरस को बर्दाश्त कर लेता है। कई बार वायरस शरीर की कोशिकाओं को नुकसान पहुंचाने की बजाय उनके हमसफर बन जाते हैं, और कई बार शरीर की प्रतिक्रिया वास्तव में वायरस संक्रमण से 'लड़ती' नहीं है।

इतना कहने के बाद, वायरस संक्रमण को सीमित रखने के लिए शरीर के पास तीन प्रमुख तरीके होते हैं।

प्रत्यक्ष 'वायरस-रोधी' तरीकों के अलावा, शरीर वायरल, बैक्टीरियल, फंगल या अन्य घुसपैठियों से निपटने के लिए यह भी करता है कि उन्हें शरीर में किसी एक जगह कैद कर देता है (और उन्हें पूरे शरीर में फैलने से रोकता है)। आजकल की भाषा में ऐसी प्रतिक्रियाएं संक्रमण को 'कंटेनमेंट' ज़ोन में 'क्वारेन्टाइन' करने जैसी होती हैं। प्रतिक्रियाओं की इस श्रेणी को हम 'शोथ' या इंप्लेमेंशन कहते हैं।

तो चलिए प्रत्यक्ष वायरस-रोधी प्रतिक्रियाओं पर लौटते हैं। एक तरीका यह है कि शोथ के साथ-साथ एक प्रक्रिया

शुरु होती है: अपनी खुद की कोशिकाओं को संदेश दिया जाता है कि वे कोशिका के अंदर ही वायरस-रोधी प्रतिक्रियाएं शुरु करके वायरस का जीना हराम कर दें। इंटरफेरॉन-अल्फा और इंटरफेरॉन-बीटा यही करते हैं (और इन्हें कोविड-19 के उपचार में आजमाया भी जा रहा है)।

दो अन्य वायरस-रोधी प्रतिक्रियाएं काफी कारगर होती हैं, शायद उपरोक्त प्रतिक्रिया से भी ज़्यादा। लेकिन उन्हें शुरु होने में वक्त लगता है। ऐसा इसलिए है कि, जैसा कि हमने ऊपर देखा, शरीर की कुछ कोशिकाएं प्रवेश करने वाले सूक्ष्मजीव के कुछ विशिष्ट टुकड़ों को पहचानती हैं - ऐसे आकार जो सिर्फ उसी सूक्ष्मजीव (या उसके निकट सम्बंधियों) पर पाए जाते हैं। तो ये भी प्रतिक्रिया देना शुरु कर देती हैं, लेकिन दिक्कत यह होती है कि किसी भी लक्षित आकार के लिए जो कोशिकाएं होती हैं, उनकी संख्या बहुत कम होती है। इसलिए ठीक-ठाक प्रतिक्रिया देने के लिए पहले इन्हें बार-बार विभाजित होकर अपनी संख्या बढ़ानी पड़ती है। संख्यावृद्धि करते हुए, वे परिपक्व होकर उस विशिष्ट आकार के विरुद्ध प्रतिक्रिया की क्षमता हासिल करती जाती हैं।

दूसरा, शरीर प्रोटीन या एंटीबॉडी बनाता है जो वायरस की सतह के ठीक उस हिस्से पर चिपक जाते हैं जिसके जरिए वायरस कोशिका पर चिपकता है। परिणामस्वरूप, एंटीबॉडी से ढंका वायरस कोशिका में घुस नहीं पाता। प्लाज़्मा उपचार और मोनोक्लोनल एंटीबॉडी जैसे तरीके यही करने की कोशिश करते हैं। SARS-CoV-2 के विरुद्ध अधिकांश टीकों से भी यही करने की उम्मीद है।

शरीर के पास वायरस को सीमित रखने का एक तीसरा तरीका यह है कि हाल ही में वायरस से संक्रमित कोशिकाओं को पहचानकर 'किलर' कोशिकाओं की मदद से उन्हें मार दिया जाए, इससे पहले कि वायरस अपनी प्रतिलिपियां बनाना शुरु कर सके।

इन दोनों तरीकों को अनुकूलक प्रतिक्रियाएं कहते हैं क्योंकि ये प्रवेश करने वाले वायरस को 'देखती' हैं, अपने खजाने में उससे मिलते-जुलते तत्वों को खोजती और तलाश करती हैं, फिर खजाने के उस तत्व को विस्तार देती हैं और उन्हें तैनात करती हैं - एंटीबॉडी के रूप में या किलर कोशिका के रूप में। यह विस्तारित खजाना शरीर में वायरस

से निपट लेने के बाद भी बना रहता है।

तो, वायरस संक्रमण के समय हरेक व्यक्ति में शोथ व इंटरफेरॉन प्रतिक्रियाएं मौजूद होती हैं। ये प्रतिक्रियाएं संक्रमण के तुरंत बाद, चंद्र मिनटों से लेकर कुछ घंटों के अंदर, सक्रिय हो जाती हैं।

इसके विपरीत, अनुकूलक प्रतिक्रिया को शुरु होने में समय लगता है, खासकर यदि हमारे शरीर ने वह वायरस या उस जैसा कुछ पहले न देखा हो। कारण यह है कि शुरुआत में खजाने को विस्तार देने में समय लगता है (आमतौर पर दो दिन, कभी-कभी ज़्यादा)। दूसरी ओर, यदि वायरस किसी ऐसे शरीर में प्रवेश करता है जिसके पास पहले से विस्तारित खजाना है जो उस वायरस को पहचान सके, तो अनुकूलक प्रतिक्रिया भी कुछेक मिनट या घंटों में शुरु हो जाती है। यही वजह है कि हम उसी वायरस से पुनः संक्रमण (या टीकाकरण) से हम ज़्यादा सुरक्षित होते हैं। यहां बता देना लाज़मी है कि चाहे हमारा सामना किसी वायरस से पहली बार हो, हमें उपरोक्त प्रतिक्रियाओं की सुरक्षा हासिल होती है। बात सिर्फ इतनी है कि यदि पहले से विस्तारित खजाना मौजूद हो तो वह बेहतर और त्वरित सुरक्षा देता है।

अलबत्ता, ये विस्तारित अनुकूली खजाने समय के साथ चुक भी सकते हैं। यदि वैसा होता है तो हम उस संक्रमण के प्रति उतने ही दुर्बल होते हैं जितने पहली बार थे।

क्या प्रत्येक व्यक्ति घुसपैठी सूक्ष्मजीव के प्रति इस तरह इम्यून हो जाता है? हां, यह बात कम्बेश सही है, हालांकि प्रतिक्रिया की मात्रा और अवधि में अंतर हो सकता है। क्या ऐसा सारे सूक्ष्मजीवों के संदर्भ में होता है? जी हां, लगभग, हालांकि सूक्ष्मजीवी अपवाद भी होते हैं।

क्या हम यह इम्यूनैटी एक संक्रमित व्यक्ति से किसी अन्य वायरस-अनभिज्ञ व्यक्ति को दे सकते हैं? तथाकथित सुरक्षा प्रतिक्रियाएं या तो रक्त में एंटीबॉडी कहे जाने वाले प्रोटीन्स के रूप में होती हैं या वायरस को पहचानने वाली किलर कोशिकाओं के रूप में होती हैं। एक व्यक्ति से दूसरे को कोशिकाएं प्रत्यारोपित करने की समस्याओं से तो हम अंग प्रत्यारोपण के संदर्भ में परिचित ही हैं। अधिकांश प्रत्यारोपण शरीर (के प्रतिरक्षा तंत्र) द्वारा अस्वीकार कर दिए जाते हैं। इसी तरह इम्यून कोशिकाओं को भी अस्वीकार

कर दिया जाता है।

दूसरी ओर, हम एंटीबॉडी स्थानांतरित कर सकते हैं। प्लाज़्मा उपचार या मोनोक्लोनल एंटीबॉडी उपचार इसी उम्मीद में किए जाते हैं। लेकिन एंटीबॉडी कुछेक सप्ताह में समाप्त हो जाती हैं, तो सुरक्षा भी लंबे समय के लिए नहीं होती। कोशिकाएं – एंटीबॉडी बनाने वाली कोशिकाएं या किलर कोशिकाएं – बेहतर साबित होंगी लेकिन उन्हें आसानी से स्थानांतरित नहीं किया जा सकता। सबसे अच्छा तो यह होगा कि एक टीका हो जो शरीर को स्वयं की वायरस-रोधी प्रतिक्रिया निर्मित करने में मदद करे।

सवाल - हर्ड इम्यूनिटी क्या है?

जवाब -यह देखते हैं कि कोई वायरस समुदाय में कैसे फैलेगा। मान लीजिए एक व्यक्ति का संपर्क (मान लीजिए किसी दूर-दराज के घने जंगल में) वायरस से होता है और वह संक्रमित हो जाता है। इस व्यक्ति का शरीर अंततः वायरस से निपट लेगा। लेकिन तब तक वायरस की प्रतिलिपियां किसी प्रकार से शरीर से बाहर निकलती रहेंगी - अक्सर शारीरिक तरल पदार्थों के माध्यम से - और यदि ये तरल पदार्थ उपयुक्त ढंग से अन्य लोगों के संपर्क में आ जाएं तो वायरस नए व्यक्तियों में संक्रमण स्थापित कर सकता है। यानी वह प्रसारित हो गया। जब तक पहला व्यक्ति अपने शरीर से वायरस का सफाया करेगा, तब इन नए संक्रमित व्यक्तियों के शरीर में वायरस बन-बनकर कई और लोगों को संक्रमित करने लगेगा।

तो वायरस की 'सफलता' का एक निर्णायक कारक यह है कि वह एक संक्रमित व्यक्ति से कितने व्यक्तियों को सफलतापूर्वक संक्रमित कर सकता है। यदि यह संख्या 1 से कम है, तो प्रसार का हर चक्र उससे पहले वाले चक्र से कम लोगों को संक्रमित करेगा और संक्रमण बहुत अधिक नहीं फैल पाएगा। यह संख्या 1 से जितनी अधिक होगी संक्रमण उतनी तेज़ी से फैलेगा।

वायरस की दिक्कत (!) यह है कि यह संख्या (जिसे R कहते हैं) काफी हद तक इस बात पर निर्भर करती है कि संक्रमित व्यक्ति के संपर्क में आने वाले लोग कितने संवेदनशील हैं। यदि संक्रमित व्यक्ति बहुत सारे लोगों के संपर्क में तो आता है, लेकिन यदि उनमें से अधिकांश लोग ऐसे हैं जो

उस वायरस से पहले टकरा चुके हैं और जिनके शरीर में अनुकूलक खजाना विस्तार पा चुका है और वे अनुकूलित प्रतिरोधी हैं, तो अब वे ठीक से संक्रमित नहीं हो पाते, और परिणाम यह होता है कि वायरस का प्रसार अकार्यक्षम हो जाता है। यही स्थिति तब भी होगी जब एक बड़े अनुपात में लोगों का टीकाकरण हो चुका हो।

यदि समुदाय में काफी सारे लोग 'अनुकूलित प्रतिरोधी' हो जाते हैं तो वायरस का प्रसार कमोबेश थम जाएगा। इस स्थिति को 'हर्ड इम्यूनिटी' कहते हैं। टीकाकरण से हर्ड इम्यूनिटी इसी प्रकार हासिल होती है। जैसे कि हम देख ही सकते हैं, अधिकांश संक्रमण देर-सबेर 'सामुदायिक प्रतिरोध' के बिंदु पर पहुंच जाएंगे। अर्थात् हर्ड इम्यूनिटी एक प्राकृतिक नतीजा है। यह स्वीडन या जनाब बोरिस जॉनसन द्वारा डिज़ाइन की गई कोई नीतिगत रणनीति नहीं है। वैसे एक रणनीति के तौर पर इस हर्ड इम्यूनिटीके भरोसे रहना मूर्खता ही कही जाएगी।

सवाल यह है कि हर्ड इम्यूनिटी तक पहुंचने के लिए कितने लोगों को SARS-CoV-2 के खिलाफ अनुकूलक इम्यूनिटी हासिल करनी होगी। हमें पक्का पता नहीं है; विशिष्ट संक्रमण और सूक्ष्मजीव से सम्बंधित कई कारकों के चलते यह अनुपात बदलता रहता है। अलबत्ता, 50 से लेकर 80 प्रतिशत तक के आंकड़े सामने आए हैं। चूंकि SARS-CoV-2 के खिलाफ अनुकूलक प्रतिरोध फिलहाल करीब 20 प्रतिशत लोगों में रिकॉर्ड हुआ है, इसलिए अभी दुनिया हर्ड इम्यूनिटी के आसपास भी नहीं पहुंची है।

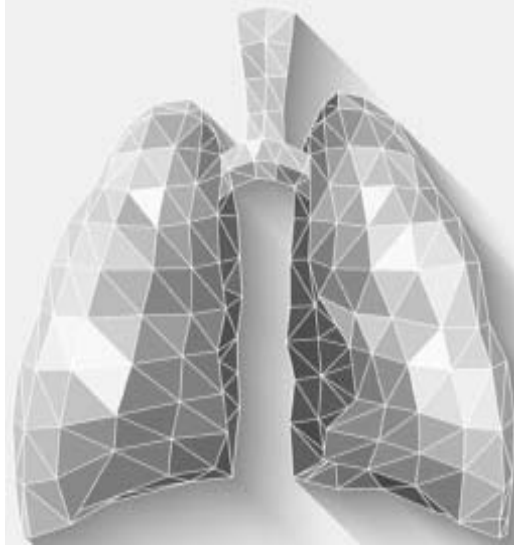
स्पष्ट है कि हर्ड इम्यूनिटी की स्थिर स्थिति हासिल होने के लिए ज़रूरी होगा कि वायरस के संक्रमण की वजह से बढ़िया सुरक्षात्मक प्रतिक्रिया पैदा हो और यह प्रतिक्रिया (जैसे एंटीबॉडी) जल्दी खत्म नहीं होनी चाहिए। SARS-CoV-2 के मामले में जहां पहली शर्त तो काफी सारे संक्रमित लोगों में पूरी होती दिख रही है, लेकिन इस बात को लेकर अनिश्चितता है कि ये एंटीबॉडी कितने समय तक बनी रहेंगी। तो हो सकता है कि SARS-CoV-2 के खिलाफ हर्ड इम्यूनिटी थोड़ी अस्थिर-सी होगी। इसे स्थिरता प्रदान करने के लिए हमें टीके की ज़रूरत होगी, जो शायद अगले साल तक ही सामने आएंगे। (स्रोत फीचर्स)

कृत्रिम अंगों पर कोरोनावायरस का अध्ययन

आजकल शोधकर्ता कृत्रिम अंगों पर नए कोरोनावायरस के प्रभाव का अध्ययन कर रहे हैं। इन अध्ययनों से पता चला है कि इस वायरस में फेफड़ों से लेकर लीवर, गुर्दे और आंत तक में संक्रमण करने का लचीलापन है। चिकित्सकों ने देखा है कि शरीर के विभिन्न अंगों पर SARS-CoV-2 के विनाशकारी असर होते हैं लेकिन अभी तक यह स्पष्ट नहीं है कि ये प्रभाव सीधे वायरस के कारण हैं या संक्रमण की जटिलताओं के कारण। ऐसे अध्ययनों के लिए कोशिकाओं की बजाय कृत्रिम अंग वास्तविक परिस्थिति से ज्यादा मेल खाते हैं।

क्योटो विश्वविद्यालय, जापान के स्टेम-सेल जीव विज्ञानी काजुओ ताकायामा और उनके सहयोगियों ने चार अलग-अलग प्रकार के श्वसनी कृत्रिम अंग तैयार किए हैं। SARS-CoV-2 से संक्रमित करने पर टीम ने पाया कि यह वायरस मुख्य रूप से स्टेम-कोशिकाओं पर हमला करता है। इसने मुख्यतः एपिथेलियम की आधार कोशिकाओं को लक्ष्य किया लेकिन सुरक्षात्मक स्नायी क्लब कोशिकाओं में आसानी से प्रवेश नहीं कर पाया। शोधकर्ता अब यह देखने का प्रयास कर रहे हैं कि क्या वायरस आधार कोशिकाओं से अन्य कोशिकाओं में फैल सकता है।

ऊपरी श्वसन मार्ग से वायरस फेफड़ों में प्रवेश कर सकता है। कृत्रिम फेफड़ों पर अध्ययन करते हुए वेइल कोर्नेल मेडिसिन, न्यू यॉर्क के स्टेम-सेल जीव विज्ञानी शुईबिंग चेन ने पाया कि संक्रमण के परिणामस्वरूप कुछ कोशिकाएं तो नष्ट हो जाती हैं और वायरस कीमोकाइन्स और सायटोकाइन्स नामक प्रोटीन्स के उत्पादन को प्रेरित करता



है। इसकी वजह से बड़े स्तर पर प्रतिरक्षा प्रतिक्रिया सक्रिय हो जाती है। कोविड-19 के कई गंभीर रोगियों में साइटोकाइन सैलाब शुरू हो जाता है, जो जानलेवा हो सकता है। चेन के अनुसार यह अभी भी एक पहली ही है कि रोगियों में फेफड़ों की कोशिकाओं क्यों नष्ट हो रही हैं। क्या वे वायरस द्वारा पहुंचाई गई क्षति के कारण नष्ट होती हैं या खुदकुशी कर लेती हैं या उन्हें प्रतिरक्षा

कोशिकाएं चट कर जाती हैं।

फेफड़ों से शरीर के अन्य अंगों में SARS-CoV-2 के फैलने की प्रक्रिया पर मॉटसेराट और उनके सहयोगियों का अध्ययन *सेल* पत्रिका में प्रकाशित हुआ है। स्टेम-कोशिकाओं से विकसित कृत्रिम अंग के अध्ययन में उन्होंने पाया कि SARS-CoV-2 एंडोथेलियम यानी रक्त नलिकाओं के अस्तित्व वाली कोशिकाओं को संक्रमित कर सकता है। यहां से वायरस रक्त प्रवाह में प्रवेश कर पूरे शरीर में विचर सकते हैं। कोविड-19 ग्रस्त लोगों की पैथोलॉजी रिपोर्ट में भी क्षतिग्रस्त रक्त नलिकाओं की पुष्टि हुई है। अध्ययन से पता चलता है कि एक बार रक्त में प्रवेश करने पर यह वायरस गुर्दा समेत विभिन्न अंगों को संक्रमित कर सकता है।

कृत्रिम लीवर पर किए गए एक अन्य अध्ययन में पाया गया है कि यह वायरस पित्त उत्पादन करने वाली कोशिकाओं, कोलेनजियोसाइट्स, को संक्रमित करके नष्ट कर सकता है। इससे पहले शोधकर्ताओं का मानना था कि कोविड-19 संक्रमित लोगों में अतिसक्रिय प्रतिरक्षा प्रतिक्रिया के कारण लीवर को क्षति पहुंचती है। लेकिन कृत्रिम लीवर पर किया गया अध्ययन दर्शाता है कि वायरस सीधे-सीधे लीवर

कोशिकाओं को संक्रमित कर सकता है। *साइंस* में प्रकाशित एक अन्य अध्ययन के अनुसार यह वायरस आंतों के अस्तर की कोशिकाओं में भी संख्यावृद्धि कर सकता है।

हालांकि, कृत्रिम अंगों पर किए गए प्रयोगों से प्राप्त निष्कर्ष महत्वपूर्ण हैं लेकिन ये सभी प्रयोग अभी शुरुआती अवस्था में हैं और कहा नहीं जा सकता कि ये कितने प्रासंगिक हैं।

इसके अलावा वैज्ञानिक कृत्रिम अंगों पर दवाओं के

प्रभाव का अध्ययन भी कर रहे हैं। इनमें से कुछ तो जीवों पर व्यापक परीक्षण के बिना नैदानिक परीक्षण तक पहुंच गई हैं। चैन ने यू.एस. खाद्य एवं औषधि प्रशासन द्वारा अन्य रोगों के लिए अनुमोदित 1200 दवाओं की जांच की है। उन्होंने कैंसर की दवा इमैटिनिब को SARS-CoV-2 के विरुद्ध प्रभावी बताया है। इसके बाद से ही कोविड-19 उपचार के लिए कई क्लीनिकल परीक्षण शुरु किए गए हैं। (*स्रोत फीचर्स*)

भविष्य में महामारियों की रोकथाम का एक प्रयास

इन दिनों हार्वर्ड स्कूल ऑफ पब्लिक हेल्थ के प्रतिरक्षा विज्ञानी और महामारी विज्ञान विशेषज्ञ माइकल मीना रक्त के लाखों नमूने जमा कर रहे हैं। उनका उद्देश्य ग्लोबल इम्यूनोलॉजी ऑब्ज़र्वेटरी (जीआईओ) के माध्यम से आबादी में फैलने वाले रोगजनक सूक्ष्मजीवों के संकेतों की निगरानी करना है। यह एक ऐसी तकनीक पर आधारित है जो रक्त की माइक्रोलीटर मात्रा में भी विभिन्न एंटीबॉडी को माप सकेगी। यदि जीआईओ तकनीकी बाधाओं को दूर करके निरंतर वित्तीय सहायता प्राप्त कर पाता है तो हमारे पास महामारियों की निगरानी करने और निपटने का एक प्रभावी साधन होगा।

फिलहाल, अमेरिका में रोगों से जुड़ी असामान्य घटनाओं की रिपोर्ट राज्य के स्वास्थ्य विभागों के माध्यम से सेंटर फॉर डिजीज़ कंट्रोल एंड प्रिवेंशन (सीडीसी) को भेजी जाती है। लेकिन कोविड-19 के प्रसार को देखते हुए मीना एक त्वरित और व्यापक निगरानी प्रक्रिया के पक्ष में हैं। मीना नियमित रूप से एंटीबॉडी के माध्यम से महामारियों का पता लगाना चाहते हैं। इसके लिए वे रक्त बैंकों से लेकर प्लाज़्मा केंद्रों जैसे हर संभव स्रोत से निरंतर रक्त के नमूने जमा कर रहे हैं। आनुवंशिक रोगों की पहचान के लिए अधिकांश राज्यों में लगभग सभी नवजात शिशुओं के रक्त के नमूने जमा किए जाते हैं। इनको भी इस कार्य में शामिल कर लिया जाएगा। इन नमूनों की पहचान केवल भौगोलिक क्षेत्र के आधार पर की जाएगी। फिलहाल कुछ कंपनियों द्वारा

पहले से ही चिप-आधारित तकनीक से हज़ारों एंटीबॉडीज़ की पहचान करने के उपकरण बनाए जा रहे हैं। इन कंपनियों की मदद से यह काम और व्यापक स्तर पर किया जा सकता है।

फिलहाल विचार यह है कि प्रतिदिन 10,000 और आगे चलकर एक लाख नमूनों का विश्लेषण किया जाएगा। वर्तमान निगरानी प्रणाली की तुलना में इस ऑब्ज़र्वेटरी की मदद से इससे भी कम संख्या में महामारी के प्रकोप का जल्द पता लग सकता है। जीआईओ की मदद से मौसमी इन्फ्लुएंज़ा की निगरानी को भी तेज़ किया जा सकता है ताकि अस्पतालों को तैयारी करने का पर्याप्त समय मिल सके और टीके वितरित किए जा सकें।

जीआईओ कोविड-19 जैसे नए संक्रामक रोगों के प्रसार को ट्रैक कर सकता है। इसके लिए एंटीबॉडी का पता लगाने वाली चिप्स को नए रोगजनक के लिए अपडेट करना ज़रूरी नहीं होगा। इसकी सहायता से शोधकर्ता उन एंटीबॉडी की बढ़ोतरी का पता लगा सकते हैं जो ज्ञात रोगजनकों को अविशिष्ट रूप से लक्षित करती हैं। संक्रमण शुरु होने के 1 से 2 सप्ताह बाद दिखाई देने वाली एंटीबॉडी न केवल वर्तमान संक्रमित लोगों की जानकारी देगी बल्कि उन लोगों के बारे में भी बताएंगी जो इस रोग से ठीक हो चुके हैं। क्योंकि हर एंटीबॉडी की एक अलग पहचान होती है, जीआईओ में बैक्टीरिया या वायरस संक्रमित लोगों के विशेष स्ट्रेंस की पहचान भी हो सकेगी। (*स्रोत फीचर्स*)

एफडीए ने ट्रम्प की पसंदीदा दवा को नामंजूर किया

अमेरिका के खाद्य व औषधि प्रशासन (एफडीए) ने कोविड-19 के लिए हाइड्रोक्सीक्लोरोक्विन सल्फेट और क्लोरोक्विन फॉस्फेट के आपातकालीन उपयोग की मंजूरी को निरस्त कर दिया है। गौरतलब है कि इन दोनों ही दवाओं को अमरीकी राष्ट्रपति ट्रम्प और अन्य लोगों ने कोविड-19 के विरुद्ध निर्णायक (गेमचेंजर) माना था। हाल ही में कोविड-19 संक्रमित लोगों में किए गए रैंडम क्लीनिकल परीक्षण में दोनों दवाएं बीमारी के उपचार में नाकाम रही हैं। इस विषय में एफडीए के कुछ पूर्व अधिकारियों का मानना है कि इस दवा को आपातकालीन उपयोग के लिए मंजूरी वैज्ञानिक प्रमाण पर नहीं बल्कि राजनीतिक दबाव पर आधारित थी।

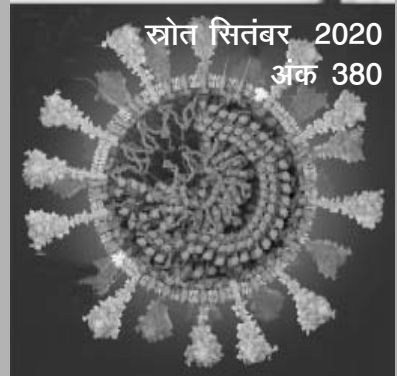
एफडीए की पूर्व मुख्य वैज्ञानिक लुसियाना बोरियो एफडीए के इस फैसले की सराहना करती हैं और इसे वैज्ञानिक एवं सार्वजनिक हित पर आधारित निर्णय मानती हैं। इस फैसले की महत्वपूर्ण बात यह रही कि एफडीए की यह कार्रवाई बिना किसी राजनैतिक दबाव के पूरी तरह से वैज्ञानिक दृष्टिकोण पर आधारित रही।

हालिया वैज्ञानिक समीक्षा के हवाले से एफडीए ने कोविड-19 उपचार के लिए हाइड्रोक्सीक्लोरोक्विन और क्लोरोक्विन के आपातकालीन उपयोग को अप्रभावी बताया है। इसके अलावा, यह भी स्पष्ट किया है कि हृदय की गंभीर समस्याओं और अन्य दुष्प्रभावों के चलते इन दोनों दवाइयों का उपयोग काफी जोखिम भरा हो सकता है।

गौरतलब है कि आपातकालीन उपयोग की मंजूरी के तहत इस दवा का औपचारिक अनुमोदन नहीं किया गया था बल्कि इसे मुख्य रूप से केवल कोविड-19 रोगियों के लिए अस्पतालों में वितरण के लिए अनुमति दी गई थी। हालांकि, मंजूरी निरस्त करने के बाद भी इन दोनों दवाओं पर क्लीनिकल परीक्षण जारी रखा जा सकता है। चिकित्सक चाहें तो अभी भी इस दवा का 'ऑफ लेबल' उपयोग कर सकते हैं। यानी इनका उपयोग एफडीए द्वारा निर्धारित लक्षणों के अलावा भी किया जा सकता है। फिर भी एफडीए द्वारा बताए गए दुष्प्रभावों के बाद शायद ही चिकित्सक इसका उपयोग करेंगे। (स्रोत फीचर्स)

अगले अंक में.....

- कोविड-19 वायरस: एक सचित्र परिचय
- कोविड-19: सामूहिक परीक्षण के तरीके
- गरीबों को महामारी के खिलाफ तैयार करना
- भारत में विज्ञान के क्षेत्र में महिलाओं की स्थिति
- वैज्ञानिक भाषा से अपमानजनक शब्दावली हटाने की पहल



स्वास्थ्य क्षेत्र की व्यापक चुनौतियां

भारत डोगरा

हाल ही में केंद्रीय स्वास्थ्य मंत्री डॉ. हर्षवर्धन ने अस्पतालों को विशेष निर्देश दिए कि गैर-कोविड गंभीर मरीजों के समुचित इलाज की व्यवस्था इन दिनों भी बनाए रखी जाए और उसमें कोई कमी न आए। उनके इस निर्देश को इस संदर्भ में देखना चाहिए कि देश के विभिन्न भागों से कोविड-19 के दौर में गैर-कोविड मरीजों की बढ़ती समस्याओं के समाचार प्राप्त हो रहे हैं।

इतना ही नहीं विश्व स्वास्थ्य संगठन ने भी दिशानिर्देश जारी किए थे कि सभी देशों में कोविड-19 के दौर में गैर-कोविड स्वास्थ्य समस्याओं व बीमारियों के इलाज के लिए सुचारु व्यवस्था बनाए रखना कितना ज़रूरी है। चेतवनी के तौर पर विश्व स्वास्थ्य संगठन ने यह भी बताया कि 2014-15 के एबोला प्रकोप के दौरान पश्चिम अफ्रीका में जब पूरा स्वास्थ्य तंत्र एबोला का सामना करने में लगा था तो खसरा, मलेरिया, एचआईवी और तपेदिक से मौतों में इतनी वृद्धि हुई कि इन चार बीमारियों से होने वाली अतिरिक्त मौतें एबोला से भी अधिक थीं। अतः यदि गैर-कोविड गंभीर मरीजों की उपेक्षा हुई तो यह बहुत महंगा पड़ सकता है।

यदि हम आंकड़े देखें तो, जब से भारत में कोविड-19 की मौतों का सिलसिला शुरू हुआ तब से लेकर 1 जून तक कोविड-19 से लगभग 93 दिनों में 5500 मौतें हुईं। दूसरे शब्दों में तो कोविड-19 से प्रतिदिन औसतन 60 मौतें हुईं। इसी दौरान अन्य कारणों से प्रतिदिन औसतन लगभग 27,000 मौतें हुईं। दूसरे शब्दों में इन मौतों की तुलना में कोविड-19 मौतें मात्र 0.2 प्रतिशत हैं। इन आंकड़ों से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि स्वास्थ्य क्षेत्र की अन्य गंभीर समस्याओं पर समुचित ध्यान देते रहना कितना ज़रूरी है।

आज विश्व स्तर पर जो स्थिति है उसमें गैर-कोविड मरीजों की समस्याएं अनेक कारणों से बढ़ सकती हैं।

आजीविका अस्त-व्यस्त होने की समस्याओं के बीच कई मरीजों के पास सामान्य समय की तुलना में नकदी की अत्यधिक कमी है। सामान्य समय में दोस्त व रिश्तेदार

प्रायः सहायता के लिए आपातकाल में एकत्र हो जाते थे पर अब लॉकडाउन के समय ऐसा संभव नहीं है।

आपातकालीन स्थिति में अस्पताल जाने के लिए किसी परिवहन के मिलने में लॉकडाउन के समय बहुत कठिनाई होती है और कर्फ्यू या लॉकडाउन पास बनवाने में अच्छा खासा समय लगता है। अब अगर जैसे-तैसे गैर-कोविड मरीज अस्पताल पहुंच भी जाता है तो कई बार पता लगता है कि कोविड-19 की प्राथमिकताओं के बीच अन्य स्वास्थ्य सेवाएं आधी-अधूरी हैं या चालू ही नहीं हैं। यहां तक कि कुछ गंभीर मरीजों को कोविड प्राथमिकताओं के कारण उपचार के बीच ही अस्पताल छोड़ने को कहा जाता है। कई मरीजों की गंभीर सर्जरी को या अन्य चिकित्सा प्रक्रियाओं को स्थगित कर दिया जाता है। निर्धनता, बेरोजगारी, भूख एवं कुपोषण ने बीमार पड़ने की संभावना को वैसे ही और बढ़ा दिया है।

नौकरी खोने, अनिश्चित भविष्य, बढ़ती निर्धनता और भूख व साथ ही अपने दोस्तों व रिश्तेदारों से संपर्क न होने की स्थिति में मानसिक स्वास्थ्य समस्याएं बढ़ती हैं और इसके कारण अन्य बीमारियों की संभावना बहुत बढ़ जाती है। ऐसी स्थितियों में हिंसक व्यवहार व आत्महत्या करने के प्रयास की संभावना भी बढ़ जाती है।

कुछ स्थानों पर आवश्यक जीवन रक्षक दवाइयों और चिकित्सा उपकरणों की आपूर्ति की शृंखला टूट जाती है। यहां तक कि जब दवाओं की ऐसी गंभीर कमी नहीं होती तब भी स्थानीय स्तर पर, विशेषकर दूर-दराज गांवों में मरीजों को दवाएं और चिकित्सा साज-सामान नहीं मिलते हैं। कुछ अस्पतालों में बाह्य रोगी विभागों (ओपीडी) के बंद हो जाने के कारण गंभीर स्वास्थ्य समस्याओं से पीड़ित रोगियों को समय पर रोगों के निदान एवं उपचार मिलने की संभावना भी कम हो जाती है। इसके अतिरिक्त ब्लड बैंक में रक्त व रक्त दाताओं की कमी भी लॉकडाउन के कारण हो जाती है। लॉकडाउन के चलते प्रवासी मज़दूर परिवारों को

बच्चों सहित दूर-दूर तक पैदल जाने की मजबूरी हुई। इस कारण उनमें स्वास्थ्य समस्याओं के बढ़ने की संभावना अधिक है।

इन समस्याओं से स्पष्ट है कि गैर-कोविड मरीजों पर ध्यान देना कितना ज़रूरी है। साथ में इस ओर भी ध्यान देना ज़रूरी है कि अस्पतालों, डाक्टरों और स्वास्थ्यकर्मियों द्वारा

इस व्यापक ज़िम्मेदारी को निभाने के लिए अनुकूल संसाधन और सुविधाएं बढ़ाना भी आवश्यक है। सामान्य समय में भी देश के अनेक भागों में स्वास्थ्य का ढांचा कमज़ोर होने के कारण गंभीर मरीजों को अनेक कठिनाइयां आती रही हैं जो कोविड के दौर में तो निश्चय ही बढ़ गई हैं। (स्रोत फीचर्स)

कोविड-19 प्लाज़्मा थेरेपी

13 मार्च को जॉन हॉपकिंस युनिवर्सिटी के संक्रामक रोग विशेषज्ञ आर्टूरो कसाडेवल और एक अन्य साथी द्वारा दी जर्नल ऑफ क्लीनिकल इंवेस्टिगेशन में प्रकाशित शोध पत्र में कोविड-19 के प्रभावी उपचार के लिए इस रोग से उबर चुके लोगों के रक्त प्लाज़्मा के उपयोग पर चर्चा की गई थी। इनके प्लाज़्मा में विकसित एंटीबॉडी से नए रोगियों का इलाज किया जा सकता है।

हाल ही में अमेरिका के कई अस्पतालों में 16,000 रोगियों पर प्रायोगिक तौर पर इस उपचार का उपयोग किया गया। इसके अलावा चीन और इटली में किए गए कुछ छोटे अध्ययनों से भी काफी आशाजनक नतीजे मिले। पूर्व में इसका उपयोग अन्य रोगों के लिए किया जा चुका है। चीन, इटली तथा अन्य देशों में किए गए प्रयोगों के परिणाम भी आशाजनक रहे हैं।

अलबत्ता, कुछ परिणाम निराशाजनक भी हैं। 2015 में युनिवर्सिटी मेडिकल सेंटर हैम्बर्ग द्वारा गिनी में 84 एबोला रोगियों पर किए गए अध्ययन में प्लाज़्मा उपचार के कोई लाभ नज़र नहीं आए थे। इसके अलावा प्लाज़्मा प्रत्यारोपण में रक्त-जनित संक्रमण का जोखिम भी रहता है। कुछ मामलों में तो फेफड़ों को गंभीर नुकसान भी हो सकता है। कई बार रोगी का शरीर रक्त की अतिरिक्त मात्रा के अनुकूल नहीं हो पाता जिससे मृत्यु की संभावना बढ़ जाती है। फिलहाल शोधकर्ताओं द्वारा एकत्र किए गए डेटा से अब तक ऐसे गंभीर मामलों की संख्या काफी कम पाई गई है। यूएस में शुरुआती 5000 लोगों का प्लाज़्मा उपचार करने पर केवल 36 मामले गंभीर पाए गए हैं।

बोस्टन युनिवर्सिटी के संक्रामक रोग चिकित्सक नाहिद

भादेलिया के अनुसार यदि यह उपचार कारगर साबित हो जाता है तो बड़े स्तर पर उपचार के लिए प्लाज़्मा की आवश्यकता को पूरा करना एक चुनौती बन सकता है। एक बार में एक व्यक्ति से लगभग 690-880 मिलीलीटर प्लाज़्मा मिलता है जो मात्र एक-दो रोगियों के लिए ही पर्याप्त होगा। जैसे ठीक होने के बाद एक व्यक्ति कई बार प्लाज़्मा दान कर सकता है और इसकी उपलब्धता को लेकर कोई समस्या होने की संभावना कम है।

एक समस्या यह हो सकती है कि विभिन्न दाताओं की एंटीबॉडी के घटकों और सांद्रता में काफी भिन्नता होती है यही वजह है कि प्लाज़्मा उपचार के संदर्भ में प्रमाण काफी कमज़ोर हैं। इसके लिए जापानी औषधि कंपनी टेकेडा कई अन्य सहयोगियों के साथ हाइपरइम्यून ग्लोब्युलिन नामक एक उत्पाद पर काम कर रही है। इसमें सैकड़ों ठीक हुए रोगियों के रक्त को मिलाकर एंटीबॉडी का सांद्रण किया जाएगा। हाइपरइम्यून ग्लोब्युलिन को प्लाज़्मा की तुलना में अधिक समय तक रखा जा सकता है। चूंकि कुल आयतन बहुत कम होता है, इसलिए साइड प्रभावों का जोखिम भी कम रहता है।

आखिरी बार टेकेडा ने हाइपरइम्यून ग्लोब्युलिन का उत्पादन 2009 में एच1एन1 इन्फ्लुएंज़ा के लिए किया था। कंपनी ने 16,000 लीटर प्लाज़्मा की मदद से एंटीबॉडी का संकेंद्रण किया था जिससे हज़ारों रोगियों का उपचार संभव हो सकता था। लेकिन फ्लू स्ट्रेन उम्मीद से काफी कमज़ोर निकला और इस उपचार का उपयोग कभी करना ही नहीं पड़ा। उम्मीद है कि इस बार स्वस्थ हो चुके मरीजों की एंटीबॉडी ज़्यादा बड़ी भूमिका निभाएंगी। (स्रोत फीचर्स)

भविष्य का सूक्ष्मजीव-द्वैषी, अस्वस्थ समाज

डॉ. सुशील जोशी

कोरोनाकाल में लोगों में सूक्ष्मजीवों से सुरक्षा की चिंता बढ़ी है, जो शायद उचित भी है। मास्क लगाना, एक-दूसरे से दूर-दूर रहना, बार-बार साबुन या सैनिटाइज़र से हाथ धोना वगैरह लोगों की आदतों में शुमार होता जा रहा है। प्रचार-प्रसार भी खूब हो रहा है। सारे साबुनों के विज्ञापनों में अचानक वायरस और खास तौर से कोरोनावायरस को मारने की क्षमता का बखान जुड़ गया है। एक खबर यह भी है कि अब ऐसे कपड़े भी बनेंगे जो कीटाणुओं का मुकाबला करेंगे। कपड़ों की धुलाई में विसंक्रमण की बात जुड़ गई है। यह भी कहा जा रहा है कि पंखों के कुछ ब्रांड सूक्ष्मजीवों को टिकने नहीं देते। कुछ रियल एस्टेट ठेकेदारों ने कोरोना-मुक्त मकान का भी वादा कर दिया है। यह भी कहा जा रहा है कि जिन सतहों को बार-बार स्पर्श किया जाता है, जैसे मेज़, दरवाज़ों के हैंडल, लिफ्ट के बटन वगैरह, उन्हें दिन में पता नहीं कितनी बार विसंक्रमित (डिस-इंफेक्ट) करते रहना चाहिए।

उपरोक्त में से कई तो शायद वर्तमान आपात काल में ज़रूरी कदम कहे जा सकते हैं। लेकिन क्या होगा यदि यह सनक समाज पर हमेशा के लिए हावी हो जाए? इस सवाल का जवाब कई मायनों में महत्वपूर्ण है और जवाब के लिए हमें थोड़ा इतिहास में झांकना होगा।

दरअसल, बीमारियों का आधुनिक कीटाणु सिद्धांत (जर्म थियरी) बहुत पुराना नहीं है। सबसे पहले यह धारणा उन्नीसवीं सदी में प्रस्तुत की गई थी कि कुछ बीमारियां कीटाणुओं के संक्रमण के कारण पैदा होती हैं। कीटाणुओं में बैक्टीरिया, फ़ूँद, वायरस, प्रोटोज़ोआ वगैरह शामिल हैं। वैसे यह रोचक बात है कि कीटाणुओं को रोग का वाहक या कारक मानने को लेकर समझ भारत तथा मध्य पूर्व में दसवीं सदी से ही प्रचलित थी। लेकिन वास्तविक रोगजनक सूक्ष्मजीवों को पहचानने व उनके उपचार का काम बहुत बाद में शुरू हुआ। इसमें लुई पाश्चर, फ्रांसेस्को

रेडी, जॉन स्नो, रॉबर्ट कोच वगैरह का योगदान महत्वपूर्ण रहा था।

कीटाणु सिद्धांत के मुताबिक कुछ रोग ऐसे हैं जो शरीर में रोगजनक कीटाणुओं के प्रवेश के कारण पैदा होते हैं। इनके इलाज के लिए सम्बंधित कीटाणु पर नियंत्रण करने की ज़रूरत होती है। टीका भी इसी सिद्धांत की देन है। इस सिद्धांत ने स्वच्छता और रोग का परस्पर सम्बंध भी दर्शाया। चूंकि ये कीटाणु हवा और पानी के माध्यम से व्यक्तियों के बीच फैल सकते हैं, इसलिए बीमार व्यक्ति को अलग-थलग रखना, हवा-पानी की शुद्धता वगैरह बातें सामने आती हैं। कुछ कीटाणु ऐसे भी पहचाने गए जो दो व्यक्तियों के बीच स्पर्श के ज़रिए सीधे भी फैल सकते हैं। कुछ कीटाणु ऐसे भी हैं जिनके प्रसार के लिए किसी तीसरे जंतु की ज़रूरत होती है। बरसों के अनुसंधान के आधार पर आज हम कई कीटाणुओं, उनके प्रसार के तरीकों, मध्यस्थ जीवों वगैरह की पहचान से लैस हैं। इस समझ ने हमें इन रोगों के उपचार के अलावा रोकथाम में भी सक्षम बनाया है।

इन रोगों में शामिल हैं चेचक, टीबी, टायफाइड, मलेरिया, रेबीज़, कुष्ठ, एड्स, फ्लू, हैज़ा, प्लेग, और अब कोविड-19। इनमें से अधिकांश रोगों के लिए हमारे पास दवाइयां उपलब्ध हैं, और कई की रोकथाम के लिए टीके भी उपलब्ध हैं। इसके अलावा, खास तौर से जल-वाहित तथा जंतु-वाहित रोगों के लिए रोकथाम के अन्य उपाय (जैसे मच्छरदानी, मच्छरनाशी रसायनों का छिड़काव, पानी का उपचार वगैरह) भी उपलब्ध हैं। इस प्रगति का एक परिणाम यह हुआ कि इन रोगों से मरने वालों की संख्या बहुत कम हो गई।

लेकिन इस तरीके (खास तौर से कीटाणुओं को मारने वाली दवाइयों यानी एंटीबायोटिक के उपयोग) को लेकर चिकित्सा जगत व साधारण लोगों के बीच भी एक जुनून पैदा हुआ। इनका उपयोग इस कदर बढ़ा कि ये लगभग

‘ओवर दी काउंटर’ दवाइयां हो गईं। हर छोटे-मोटे बुखार के लिए, सर्दी-जुकाम, दस्त वगैरह के लिए एंटीबायोटिक दवाइयां देना आम बात हो गई। डॉक्टर तो लिखते ही थे, आम लोगों ने मेडिकल स्टोर्स से खरीदकर इनका उपयोग शुरू कर दिया। यह भी हुआ कि खुराक पूरी होने से पहले ठीक लगने लगा तो दवा बंद कर दी।

इस तरह के बेतहाशा, अंधाधुंध उपयोग का एक परिणाम यह हुआ कि सम्बंधित कीटाणु उस दवा के प्रतिरोधी हो गया। आज हमारे पास बहुत कम एंटीबायोटिक बचे हैं जो असरकारक हैं। विश्व स्वास्थ्य संगठन सहित कई संगठनों ने चेतावनी दी है कि यदि यही हाल रहा तो शीघ्र ही हम उस ज़माने में पहुंच जायेंगे जब एंटीबायोटिक थे ही नहीं।

तो आज की स्थिति इस किस्से का क्या लेना-देना है? बहुत कुछ। यह तो हमने देखा ही कि एंटीबायोटिक दवाइयों के अतिरेक ने कैसे हमें 200 साल पीछे घसीट दिया है। लेकिन उससे महत्वपूर्ण बात यह है कि इसी ने हमें कई नई समस्याओं में उलझा दिया है। सूक्ष्मजीव विज्ञान ने सूक्ष्मजीवों के बारे में और उनसे हमारे सम्बंधों के बारे में एकदम चौंकाने वाली नई समझ प्रदान की है। पिछले कई वर्षों के अनुसंधान के दम पर हम यह समझ पाए हैं कि सूक्ष्मजीव और रोग पर्यायवाची नहीं हैं। लाखों-करोड़ों सूक्ष्मजीव प्रजातियों में से बहुत ही थोड़े से हैं जो रोगजनक हैं। शेष या तो उदासीन हैं या लाभदायक हैं। जी हां, बैक्टीरिया, वायरस वगैरह लाभदायक सम्बंध में हमारे साथ रहते हैं।

मनुष्य के शरीर के ऊपर (त्वचा पर) तथा पाचन तंत्र, श्वसन तंत्र तथा अन्य स्थानों पर रहने वाले सूक्ष्मजीव-संसार के अध्ययन ने दर्शाया है कि ये हमारे लिए कितने महत्वपूर्ण हैं। ये पाचन में मददगार होते हैं, शरीर की जैव-रासायनिक क्रियाओं के सुचारु संचालन में सहायता करते हैं और (चौंकिएगा मत) हमारे प्रतिरक्षा तंत्र को सुदृढ़ करते हैं। और हाल में यह भी देखा गया है कि हमारी नाक का सूक्ष्मजीव-संसार हमें कई तरह के संक्रमणों व एलर्जी से बचाता है। यदि इस सूक्ष्मजीव-संसार में थोड़ी भी गड़बड़ी हो जाए तो समस्याएं शुरू हो जाती हैं।

कैलिफोर्निया विश्वविद्यालय के सूक्ष्मजीव वैज्ञानिक जोनाथन

आइसन ने बताया है कि हैंड सैनिटाइज़र का उपयोग हमारी त्वचा के सूक्ष्मजीव-संसार को अस्त-व्यस्त कर सकता है, जिसके चलते रोगजनक सूक्ष्मजीवों को वहां पनपने का मौका मिल सकता है। आइसन के मुताबिक हैंड सैनिटाइज़र्स एंटीबायोटिक के खिलाफ प्रतिरोध बढ़ाने में भी योगदान दे सकते हैं।

वायरसों की बात करते हैं, क्योंकि वे ही आजकल सेलेब्रिटी हैं। यह समझना ज़रूरी है कि कई वायरस लाभदायक असर भी दिखाते हैं। इनमें वे वायरस शामिल हैं जिन्हें बैक्टीरियोफेज यानी बैक्टीरिया-भक्षी कहते हैं। चिकित्सा में इनके उपयोग की वकालत की जा रही है और इसमें कुछ सफलता भी मिली है। कुछ वायरस ऐसे भी हैं जो गंभीर संक्रमण पैदा कर सकते हैं। जैसे हर्पीज़ का वायरस। लेकिन ऐसा कम लोगों में होता है कि यह वायरस गंभीर रोग का कारण बन जाए। जब यह सुप्तावस्था में होता है तो यह हमारे शरीर के प्रतिरक्षा तंत्र को लिस्टेरिया से होने वाले फूड-पॉइज़निंग से और ब्यूबोनिक प्लेग से लड़ने को तैयार करता है।

2016 में *पीडियाट्रिक्स* में प्रकाशित एक अध्ययन में पाया गया था कि जो बच्चे 1 वर्ष से कम उम्र में झूलाघर में रहते हैं, उनमें आगे के बचपन में आमाशय फ्लू का प्रकोप कम होता है। इसी प्रकार से, कुछ अध्ययनों ने दर्शाया है कि बचपन में रोगजनक सूक्ष्मजीवों (खासकर वायरसों) से संपर्क बच्चों को कई तकलीफों से बचाता है।

हैंड सैनिटाइज़र्स ही नहीं, कई घरों में इस्तेमाल की जाने वाली डिशवॉशिंग मशीन को लेकर किए गए अध्ययनों में पता चला है कि इनका सम्बंध बच्चों में दमा तथा एलर्जी के बढ़े हुए खतरों से है। संभवतः ऐसी तकनीकों के कारण बच्चों का लाभदायक बैक्टीरिया से संपर्क कम हो जाता है। अध्ययनों से यह भी पता चला है कि घरेलू डिसइंफेक्टेंट क्लीनर्स उपयोग करने का असर बच्चों के वज़न पर पड़ता है क्योंकि ऐसे क्लीनिंग एजेंट्स का उपयोग उनकी आंतों के सूक्ष्मजीव संसार को प्रभावित करता है।

तो यदि हमने अपने परिवेश से वायरसों व अन्य सूक्ष्मजीवों का पूरा सफाया करने की ठान ली, तो हम ऐसे निशुल्क

लाभों से हाथ धो बैठेंगे।

ट्रिक्लोसैन नामक एक रसायन का उपयोग साबुनों में तो होता ही है, इसे विभिन्न उपभोक्ता वस्तुओं, जैसे कपड़ों, पकाने के बर्तनों, खिलौनों वगैरह में जोड़ दिया जाता है। यूएस में साबुन में इसके उपयोग पर प्रतिबंध है। पाया गया है कि यह रसायन हारमोन के संतुलन में गड़बड़ी पैदा करता है और दमा व एलर्जी का कारण भी बनता है। आजकल साबुन में चांदी के नैनो कण जोड़कर उन्हें ज्यादा शक्तिशाली बनाने के विज्ञापन भी देखने को मिलते हैं। यह भी सूक्ष्मजीव संसार पर प्रतिकूल असर डाल सकता है।

तो ये थे कीटाणु-द्वेष के कुछ प्रत्यक्ष परिणाम। लेकिन इसके कुछ परोक्ष परिणाम भी हैं, जिन पर गौर करना ज़रूरी है। इसकी सबसे पहली बानगी हमें यूए के एक प्रमुख राजनेता की टिप्पणी में सुनाई पड़ी थी। एक रिपब्लिकन सांसद स्टीव हफमैन ने ओहायो सीनेट की स्वास्थ्य समिति की बैठक में कहा, “क्या अश्वेत लोग इसलिए कोरोनावायरस से ज्यादा संक्रमित हो रहे हैं क्योंकि वे अपने हाथ ठीक से धोते नहीं हैं?” उनकी यह टिप्पणी स्वास्थ्य को व्यक्तिगत आचरण का मामला बना देती है और सार्वजनिक स्वास्थ्य के लक्ष्यों को ओझल कर देती है।

हमारे शहर की हवा प्रदूषित होगी, तो बात मास्क की होगी, प्रदूषण कम करने की नहीं। गंदा, संदूषित पानी सप्लाय होगा तो हम ‘सबसे शुद्ध पानी’ वाले आर.ओ. और बोटलबंद पानी की बात करेंगे, सबको साफ पेयजल की उपलब्धता की नहीं। व्यक्ति बीमार होगा तो वह निजी स्वास्थ्य सेवा की लूट-खसोट का आसान शिकार हो जाएगा, लेकिन हम सार्वजनिक स्वास्थ्य सेवाओं को सुदृढ़ व सुगम बनाने की कोशिश नहीं करेंगे। बीमार व्यक्ति की परिस्थितियों का ख्याल किए बगैर यही सवाल पूछा जाएगा कि उसने हाथ धोए या नहीं, मास्क लगाया या नहीं। यानी कीटाणुओं

के प्रसार को रोकने की ज़िम्मेदारी निजी हो जाएगी।

और बात शायद यहीं न रुके। यूएस में अश्वेत लोगों को उनकी अपनी तकलीफों के लिए जवाबदेह ठहराने की कोशिश का अगला कदम होगा कि उन्हें शेष लोगों के लिए एक खतरा घोषित कर दिया जाएगा। यूएस की बात जाने दें, हमारे अपने देश में भी कई समूह या समुदाय ऐसे होंगे जिन्हें पूरे समाज के लिए खतरा घोषित कर दिया जाएगा। एक नए किस्म का विभाजन व अलगाव पैदा होगा। और इसकी शुरुआत सोशल मीडिया (जिसे एंटी-सोशल मीडिया कहना बेहतर है) पर हो भी चुकी है।

इतिहास में देखें तो पता चलता है कि कीटाणु या संदूषण का डर हमेशा से ‘गैर’ के डर से जुड़ा रहा है। इसी का एक विस्तार सामाजिक स्तर पर भी होता है - इसे व्यवहारागत प्रतिरक्षा तंत्र कहते हैं। इसका मतलब यह होता है कि ‘नफरत’ की यह प्रतिक्रिया संक्रमण के विचार मात्र से सक्रिय हो जाती है। परिणाम यह होता है कि हम उन सब लोगों के खिलाफ पूर्वाग्रह पालने लगते हैं जो हम से भिन्न या ‘असामान्य’ हैं। कुछ समुदायों या आप्रवासियों को बदनाम करना इसी का हिस्सा होता है। ‘गैर से द्वेष’ वैसे तो कई सामाजिक परिस्थितियों में देखा जा सकता है, लेकिन कीटाणु-द्वेष इसके लिए एक नया मंच प्रदान कर रहा है।

वर्तमान महामारी के दौर में शायद कुछ सख्त उपाय ज़रूरी हों, लेकिन यदि हमें स्वास्थ्य की सामान्य समस्या या अगली महामारी से निपटना है तो अपनी स्वास्थ्य सेवा को सुदृढ़ व समतामूलक बनाना होगा ताकि वह सबकी पहुंच में हो। इसके अलावा प्रतिरोधी क्षमता बढ़ाने के लिए काढ़ा-वाढ़ा पीने में कोई हर्ज़ नहीं है लेकिन पर्याप्त पौष्टिक भोजन के महत्व को अनदेखा करने से काम नहीं चलेगा।
(**स्रोत फीचर्स**)

विज्ञान से जुड़ी नवीनतम जानकारी अब ऑनलाइन उपलब्ध

लिंक पर जाएं: www.srotefeatures.in

www.eklavya.in

महामारी और गणित

दीपक थानवी

कोरोना वायरस महामारी से पूरा विश्व प्रभावित हो चुका है। इस अभूतपूर्व आपदा से निपटने के लिए प्रत्येक व्यक्ति अपना योगदान दे रहा है। स्वास्थ्यकर्मियों, प्रशासनिक अधिकारियों व कर्मचारियों से लेकर घर में बंद सामान्य व्यक्ति तक। गैर-सरकारी संस्थाएं और समाजसेवी भी अपने स्तर पर नागरिकों की सेवा कर रहे हैं। दूसरी ओर वैज्ञानिक और प्रौद्योगिकी संस्थाएं इस महामारी को समझने की कोशिश कर रही हैं। वे परीक्षण करने की मानक विधि को लगातार विकसित कर रही हैं और मरीजों के उपचार के लिए दवा-टीके की खोज भी कर रही हैं।

अभी एक महत्वपूर्ण काम महामारी से प्रभावित होने वाले भविष्य का विश्लेषण करना है। और यह संभव हो पाता है गणित की मदद से। इतिहास गवाह है कि आपदाओं से निपटने में गणित ने एक साधन की भूमिका निभाई है। गणितीय सिद्धान्तों को कंप्यूटर मॉडल में उपयोग किया जाता है। फिर कंप्यूटर मॉडल इन सिद्धान्तों की सहायता से डेटा पर कार्य करता है और परिणाम देता है। इन मॉडल्स को गणितीय मॉडल्स भी कहा जाता है।

वैज्ञानिक अलग-अलग समस्याओं के लिए अलग-अलग गणितीय मॉडल्स का उपयोग करते हैं। इन गणितीय मॉडल्स का उपयोग महामारी से सम्बंधित जानकारी पता करने के लिए होता है। जैसे - किसी देश, क्षेत्र या शहर में महामारी से संक्रमित होने वाले मरीजों की संख्या कितनी हो सकती है? बदतर स्थिति में कितने आईसीयू बिस्तर और वेंटिलेटर की ज़रूरत पड़ सकती है? और कब हमारा स्वास्थ्य-तंत्र नाकाम होने लगेगा?

कोरोना वायरस महामारी से संक्रमित मरीजों की संख्या बहुत ही तेज़ी से बढ़ रही है। सभी देश संक्रमण की वृद्धि दर को कम करने की कोशिश कर रहे हैं। इस महामारी से लड़ने के लिए सभी देश अलग-अलग गणितीय मॉडल्स की सहायता ले रहे हैं। एक ही महामारी से लड़ने के लिए इतने सारे मॉडल्स होने के कई कारण हैं। मॉडल डेटा के आधार

पर काम करता है। जनसंख्या, संक्रमित मरीजों की संख्या, ठीक हो चुके मरीजों की संख्या, संक्रमण दर आदि सभी कारक हर देश के लिए समान नहीं हो सकते हैं। अतः हर देश का अपना डेटा व मॉडल होता है।

इन सारे मॉडल्स का आधार एसआईआर (SIR) मॉडल है। इस मॉडल को करमैक और मैक्केन्ड्रिक ने स्थापित किया था। 1920 के दशक में, दोनों ने देखा कि किसी संक्रमण के संपर्क में जो आबादी है, उसे तीन समूहों में विभाजित किया जा सकता है - संवेदनशील, संक्रमित, और संक्रमण-मुक्त। संवेदनशील लोग वे हैं जिन्हें अभी तक बीमारी नहीं हुई है। संक्रमित लोग वे हैं जो वर्तमान में संक्रमित हैं। संक्रमण-मुक्त लोग वे हैं जो पहले बीमार थे और अब स्वस्थ हो गए हैं।

करमैक और मैक्केन्ड्रिक ने इनमें से प्रत्येक समूह में गणितीय रूप से संख्याओं को प्रदर्शित करने का एक तरीका खोजा। उन्होंने अपने इस विचार को अवकल समीकरणों के रूप में लिखा। इससे यह पता लगाया जा सकता था कि जनसंख्या का कौन-सा अंश, भविष्य में किसी एक समूह से दूसरे समूह में प्रवेश करेगा।

निश्चित रूप से एसआईआर मॉडल महामारी के फैलने की जानकारी देता है। मॉडल को पहले से ही कुछ मान्यताएं बता दी जाती हैं। फिर उसके अनुसार वह डेटा को समूहों में विभाजित करके भविष्य में होने वाले संक्रमण के अनुमान को चित्रों और आंकड़ों में दर्शाता है। एक बुनियादी मान्यता यह भी होती है कि संक्रमित समूह वाला व्यक्ति संवेदनशील समूह वाले व्यक्ति के साथ बातचीत करके, उसे संक्रमित करके संक्रमित समूह में भी परिवर्तित कर सकता है। जब संक्रमित समूह बढ़ता है तब संवेदनशील समूह घटता है। संक्रमित व्यक्ति ठीक भी हो सकता है। इस स्थिति में मॉडल संक्रमित व्यक्ति के डेटा को संक्रमित समूह से हटाकर संक्रमण-मुक्त समूह में डाल देता है।

संक्रमण का संवेदनशील समूह से संक्रमित समूह की

ओर जाने के कई कारण हो सकते हैं। संक्रमण का फैलाव संक्रमित व्यक्ति के सीधे संपर्क में आने से हो सकता है। संक्रमण पानी, हवा या किसी वस्तु की सतह के माध्यम से भी हो सकता है। इसके अलावा, रोग की गतिशीलता का अध्ययन विभिन्न पैमानों पर किया जा सकता है: एकल व्यक्ति, लोगों के छोटे समूह और संपूर्ण आबादी के रूप में। उपलब्ध आंकड़ों की जटिलता के आधार पर विभिन्न मॉडल्स को चुना जाता है।

कभी-कभी बुनियादी मॉडल के लिए अतिरिक्त समूह भी बनाए जाते हैं। उदाहरण के लिए, कोई संक्रमित व्यक्ति जो कोई लक्षण प्रदर्शित नहीं कर रहा है वह एक नया समूह बन सकता है। कभी-कभी उम्र जैसे अतिरिक्त कारकों को भी ध्यान में रखने की आवश्यकता होती है।

रोग से सम्बंधित जानकारी और इसके फैलाव की विधि के आधार पर बने डेटा पर एसआईआर मॉडल को निर्भर रहना पड़ता है। लेकिन जब कोई बीमारी नई होती है - मौजूदा महामारी के मामले में 'नए कोरोनावायरस' के 'नया'

होने के कारण विश्वसनीय डेटा मिलना मुश्किल हो जाता है। और यह पारंपरिक एसआईआर मॉडल सामाजिक दूरी और घर में बंद रहने के आदेशों जैसे व्यवहार और नीतिगत बदलावों को ध्यान में नहीं रखता है।

इसलिए मौजूदा स्थितियों का आकलन करते हुए गणितज्ञ और वैज्ञानिक मिलकर नए गणितीय मॉडल्स का उपयोग कर रहे हैं और सुविधानुसार मॉडल्स विकसित भी कर रहे हैं। इन मॉडल्स की सहायता से सरकार को नीतियां बनाने में मदद मिल रही है। गणित और कंप्यूटर की यह शक्तिशाली जोड़ी हमारे स्वास्थ्य तंत्र को इस अभूतपूर्व महामारी से लड़ने में बहुत मदद कर रही है। और सरकारों को संकेत भी कर रही है कि कोरी राजनीति करने की बजाय शिक्षा और स्वास्थ्य के विकास पर जोर देना आवश्यक है। आज की तारीख में कई देशों में स्थिति नियंत्रण में आ गई है। उम्मीद है कि जल्द ही पूरे विश्व के गलियारों और बगीचों में, स्कूलों और मैदानों में, सड़कों और सांस्कृतिक स्थलों पर फिर से चहल-पहल शुरू हो जाएगी। (स्रोत फीचर्स)

जॉर्ज फ्लॉयड की शव परीक्षा की राजनीति

25 मई के दिन मिनीपोलिस पुलिस ने एक अश्वेत अमरीकी जॉर्ज फ्लॉयड नाम को धर दबोचा और एक पुलिसकर्मी डेरेक चाउविन ने जॉर्ज की गरदन पर लगभग 9 मिनट तक अपना घुटना दबाकर रखा, जिससे जॉर्ज की मौत हो गई। पुलिस द्वारा की गई इस हत्या को लोगों ने खुद अपनी आंखों से देखा और इसका वीडियो वायरल हुआ।

लेकिन जॉर्ज फ्लॉयड की प्रारंभिक शव परीक्षा रिपोर्ट के बारे में पूरी दुनिया के लोगों को इस तरह जानकारी दी गई कि उन्हें लगे कि उन्होंने ऐसा कुछ नहीं देखा था और उनमें खुद पर संशय पैदा हो जाए।

इस तरह किसी व्यक्ति की बातों, अनुभवों, और फैसलों को झुठलाकर, अपने आप पर संशय पैदा करके आत्मविश्वास या समझ में कमी लाने या उसका मनोविज्ञान बदल देने को *गैसलाइटिंग* कहते हैं। *गैसलाइटिंग* एक तरह का भावनात्मक खिलवाड़ है। *गैसलाइटिंग* शब्द 1938 के नाटक, और उसके बाद आई एक फिल्म से आया है, जिसमें एक वहशी

पति अपनी पत्नी को पागलखाने भेजने के लिए एक साजिश रचता है। वह अपने घर में गैसलाइट की रोशनी कम कर देता है, और जब उसकी पत्नी रोशनी कम होने की बात कहती है तो वह जानबूझकर उसकी बात से इन्कार कर देता है, फिर इसे उसके पागलपन के सबूत के तौर पर उपयोग करता है।

अमेरिका में व्याप्त अश्वेत-विरोधी हिंसा को *सुनियोजित गैसलाइटिंग* की तरह देखा जा रहा है। जब आवासीय योजनाओं का ऋण ना चुकाने पर किसी अश्वेत के साथ भेदभाव पूर्ण व्यवहार किया जाता है तो उनकी साख को ढाल बनाकर सफाई पेश की जाती है; जब अश्वेत युवाओं को अकारण रोककर खानातलाशी की जाती है तो कहा जाता है कि पूरी प्रक्रिया रैंडम है और कहा जाता है कि यह उनकी सुरक्षा के लिए ही किया जा रहा है।

और, जब पुलिस द्वारा अश्वेत लोगों की हत्या की जाती है तो उनके चरित्र, और यहां तक कि उनकी शारीरिक

बनावट को जिम्मेदार ठहराकर, हत्यारों को रिहा कर दिया जाता है। राज्य-स्तरीय मृत्यु प्रमाण पत्र के राष्ट्रीय डेटाबेस के एक विश्लेषण में पाया गया था कि कानून के अनुपालन में की गई हत्याओं में से आधी से भी कम हत्याएं दर्ज की जाती हैं। इसके अलावा, पुलिस द्वारा की गई बर्बरता से हुई मौत के वास्तविक कारण की बजाय कहा जाता है कि मृत्यु 'दुर्घटनावश' या 'अज्ञात' कारण से हुई। जबकि मौत का वास्तविक कारण नस्लवाद होता है।

जॉर्ज के मामले में भी 29 मई को लोगों से कहा गया कि जॉर्ज की शव परीक्षा में ऐसी कोई बात सामने नहीं आई है जो यह बताती हो कि मृत्यु दम घुटने की वजह से हुई, और कहा गया कि मृत्यु नशे और पहले से मौजूद दिल की बीमारी से हुई है। गौरतलब है कि ये कारण ऑटोप्सी करने वाले चिकित्सक ने नहीं दिए थे बल्कि चिकित्सकीय जानकारी की राजनैतिक व्याख्या करने वाले आरोप पत्र के हैं।

मानक चिकित्सीय जांच के तहत फ्लॉयड के स्वास्थ्य और शरीर में विष की उपस्थिति की जांच भी की गई थी। ये सामान्य परीक्षण हैं जो मृत्यु के कारण के बारे में नहीं बताते लेकिन फिर भी सुर्खियों में बने हुए हैं। आरोप पत्र में फ्लॉयड की मृत्यु के लिए उसे रही हृदय-धमनी रोग की दिक्कत और उच्च रक्तचाप की समस्या को बढ़ा-चढ़ाकर पेश किया गया था, जो वास्तव में लंबी अवधि में स्ट्रोक और दिल का दौरा पड़ने के जोखिम को बढ़ाती है ना कि कुछ मिनटों में। अन्य चिकित्सक बताते हैं कि एस्फिक्सिया - यानी घुटन - में हमेशा शरीर पर संकेत दिखाई पड़ें, ऐसा ज़रूरी नहीं है।

इस तरह लोगों के सामने मृत्यु के वास्तविक कारणों को तोड़-मरोड़कर पेश किया गया, और उन्हें इसे आंखों देखी हत्या के साथ सामंजस्य बैठाने छोड़ दिया गया। रिपोर्ट में जॉर्ज की पुरानी बीमारियों की भूमिका को बढ़ा-चढ़ाकर पेश किया गया, नशीले पदार्थों के बारे में अनावश्यक ज़िक्र किया गया लेकिन यह साफ तौर पर नहीं कहा गया कि यदि उस दिन पुलिस वाला जॉर्ज की गर्दन को घुटने से दबाकर न रखता तो जॉर्ज जीवित होता।

अलबत्ता, राजनैतिक दबाव के चलते, 1 जून को लोगों

के सामने जॉर्ज की शव परीक्षा की दो रिपोर्ट आईं। एक उस शव परीक्षा की रिपोर्ट थी जो जॉर्ज के परिवार ने एक निजी चिकित्सक से करवाई थी। दूसरी रिपोर्ट सरकारी थी। दोनों में ही इसे हत्या बताया गया था।

स्पष्ट है कि आरोप पत्र में मृत्यु के कारणों के बारे में भ्रम पैदा किया गया और लोगों को अपनी आंखों देखी वास्तविकता पर संदेह करने को उकसाया गया। उसमें अश्वेत लोगों के प्रति व्याप्त धारणाओं को पुष्ट करने की कोशिश की गई।

चिकित्सा विज्ञान लंबे समय से पीड़ितों की बजाय सत्ताधारी उत्पीड़कों के पक्ष में उपयोग किया जाता रहा है। अश्वेत मांओं की प्रसव के दौरान होने वाली मृत्यु के लिए उन्हें ही दोषी ठहराया जाता है, और कोविड-19 की वजह से मरने वालों में अश्वेत अमरीकियों की अधिक संख्या के लिए उनके हार्मोन रिसेप्टर्स या थक्का जमाने वाले कारक में अंतर को दोष दिया जा रहा है।

चिकित्सकों को ध्यान रखना चाहिए कि चिकित्सा विज्ञान कभी वस्तुनिष्ठ नहीं रहा है। इस पर हमेशा सामाजिक, राजनीतिक और कानूनी प्रभाव रहा है और रहेगा। आपराधिक न्यायिक मामलों को चिकित्सकीय जांच नियंत्रित करती है; ज़हर के बारे में पड़ताल रोगी की आजीविका पर प्रभाव डालती है; दूसरी ओर, ठीक तरह से किए जाएं तो वैज्ञानिक परीक्षण लिंगभेदी और नस्लवादी रूढ़ियों को खत्म कर सकते हैं।

चिकित्सा का क्षेत्र गैसलाइटिंग के लिए एक योग्य जगह है। सफेद कोट और स्टेथोस्कोप की कथित ताकत और वैधता की आड़ में निदान और निष्कर्ष में वास्तविकता को छुपाने की ताकत है। यह बात जॉर्ज के मामले में स्पष्ट नज़र आई है।

ज़रूरत है कि चिकित्सक इस पर आवाज़ उठाने के लिए प्रतिबद्ध हों। (स्रोत फीचर्स)



कोविड-19: नस्लवाद पर वैज्ञानिक चोला

जुबैर सिद्दिकी

कोविड-19 महामारी ने तमाम किस्म की गैर-वैज्ञानिक धारणाओं को जन्म दिया है। अमेरिका में इस बात ने काफी जोर पकड़ा है कि कोविड-19 की वजह से मरने वालों में अश्वेत लोगों की तादाद बहुत ज़्यादा इसलिए है क्योंकि उनमें ऐसे जीन्स पाए जाते हैं, जो उन्हें कोरोनावायरस के प्रति दुर्बल बनाते हैं। फ्लोरिडा विश्वविद्यालय में मानव विज्ञान के प्रोफेसर क्लेरेंस ग्रेवली ने मामले का विश्लेषण किया है। प्रस्तुत है उसका सार।

वैसे तो कोविड-19 पर हमारी समझ अभी भी काफी कम है फिर भी इस महामारी से जुड़े एक तथ्य को अनदेखा नहीं किया जा सकता है। एक अनुमान है कि 27 मई तक कोविड-19 से मरने वाले अफ्रीकी-अमेरिकी लोगों की तादाद श्वेत-अमेरिकी लोगों की तुलना में 2.4 गुना अधिक थी। इस असमानता पर रोष स्वाभाविक था। लेकिन इसके सही कारण (व्यवस्थागत गैर-बराबरी और उत्पीड़न के चलते जैविक क्षति) पर ध्यान देने की बजाय कुछ लोगों ने इसका पूरा दोष अफ्रीकी अमरीकियों में उपस्थित एक अज्ञात जीन के मध्ये मढ़ दिया। यह कहा गया कि यह जीन उन्हें संक्रमण के प्रति दुर्बल बनाता है।

वास्तव में यह नस्लवादी विचार राजनेताओं, वैज्ञानिकों, चिकित्सकों और अन्य लोगों से आता है कि कालापन लोगों को निहित रूप से रोगों के प्रति दुर्बल बनाता है। ऐसे विचार वैज्ञानिकों ने *लैसेट* और *हेल्थ अफेयर* जैसी कई प्रतिष्ठित शोध पत्रिकाओं में प्रकाशित भी किए हैं।

जीव विज्ञान का नस्लीय दृष्टिकोण न केवल गलत है बल्कि हानिकारक भी है। यदि अन्य प्राइमेट्स से तुलना की जाए तो मनुष्यों में बहुत ही कम आनुवंशिक विविधता नज़र आती है। कारण यह है कि मनुष्य हाल ही में अस्तित्व में आए हैं। जितनी विविधता दिखती है वह जेनेटिक नहीं बल्कि भौगोलिक कारणों से है। त्वचा के रंग के जीन और रोगों के प्रति दुर्बल बनाने वाले जीन्स में कोई सम्बंध नहीं देखा गया है।

तो फिर हम 'श्वेत' और 'अश्वेत' लोगों में रक्तचाप, मधुमेह या कोविड-19 जैसी समस्याओं की संभावना में

अंतर की बात कैसे करते हैं? कारण यह है मानव जीव शास्त्र मात्र जीनोम नहीं है। वास्तव में हमारा वातावरण, हमारे अनुभव और रोगों से संपर्क का हमारे शारीरिक विकास पर गहरा प्रभाव पड़ता है जो हमारी आनुवंशिक संभावनाओं को साकार रूप देता है। सुनियोजित नस्लीय भेदभाव शारीरिक बनावट को उतना ही प्रभावित करता है जितना कि जीनोम। स्वस्थ भोजन तक सीमित पहुंच, विषैले प्रदूषकों से संपर्क, पुलिस की हिंसा का डर या नस्लीय भेदभाव के ज़ख्म किसी की भी उच्च रक्तचाप, मधुमेह और कोविड-19 जैसी गंभीर जटिलताओं से ग्रस्त होने की संभावना को बढ़ा सकते हैं।

बदकिस्मती से, यह दृष्टिकोण जीव विज्ञान में गायब ही रहा है। जैसे 2006 में हुआ तांग और सहयोगियों द्वारा *ह्यूमन जेनेटिक्स* में प्रकाशित एक पेपर को देखिए। इस पेपर में शोधकर्ताओं ने पारिवारिक रक्तचाप कार्यक्रम के डैटा का विश्लेषण किया। इस कार्यक्रम में यह देखने की कोशिश की गई थी कि क्या मेक्सिकन अमरीकियों और अफ्रीकी अमरीकियों में बॉडी मॉस इंडेक्स और रक्तचाप के आधार पर जेनेटिक वंशावली का पूर्वानुमान लगाया जा सकता है। इस अध्ययन का निष्कर्ष था कि अफ्रीकी और गैर-अफ्रीकी मूल के लोगों के बीच आनुवंशिक अंतर रक्तचाप को प्रभावित करते हैं, हालांकि पर्यावरणीय कारक शायद ज़्यादा महत्वपूर्ण हों।

तांग के अध्ययन ने भी इस निराधार धारणा को हवा दी कि अफ्रीकी मूल के लोगों में रक्तचाप की समस्या होने की संभावना ज़्यादा है। और कोविड-19 से होने वाली मृत्यु दर

में यह धारणा काफ़ी महत्वपूर्ण हो गई है।

वेंडरबिल्ट युनिवर्सिटी में रसायन विज्ञान की प्रोफेसर रेना रॉबिन्सन बताती हैं कि अफ्रीकी अमरीकी लोगों में संभवतः ऐसे जेनेटिक कारक हैं जो उनको नमक के प्रति अधिक संवेदनशील बनाते हैं। यह रक्तचाप के लिए व्यापक रूप से फैलाई गई एक निराधार व अब खंडित संकल्पना है। इसमें कहा जाता है कि अटलांटिक दास व्यापार के दौरान कुछ ऐसी परिस्थितियां विकसित हुईं जिसने गुलाम अफ्रीकियों में नमक को बनाए रखने वाले जीनोटाइप को पीढ़ी-दर-पीढ़ी जीवित रखा। गौरतलब है कि हृदय रोग और नस्ल के सम्बंधों के लिए आनुवंशिक कारक खोजने के लिए अरबों डॉलर खर्च किए गए थे लेकिन कोई नतीजा सामने नहीं आया।

तांग के अध्ययन में दो सामान्य त्रुटियां नज़र आती हैं जिनके चलते नस्लीय-आनुवंशिक सोच टिकी हुई है।

पहली, इस अध्ययन में अफ्रीकी जेनेटिक समूह और रक्तचाप के बीच सांख्यिकी रूप से कोई महत्वपूर्ण सम्बंध नहीं पाया गया। लेकिन तांग ने फिर भी यह निष्कर्ष निकाला जो उनके आंकड़ों से नहीं निकला था। वैज्ञानिक शोध के प्रस्तुतीकरण में यह समस्या बहुत बिरली नहीं है।

और दूसरी यह कि यदि उनकी टीम ने आनुवंशिक वंश और रक्तचाप के बीच सम्बंध पाया भी तो उन्होंने अकारण मान लिया कि इसका कारण कुछ अज्ञात जेनेटिक अंतरों में है जो

1. उच्च रक्तचाप के प्रति संवेदनशीलता को बढ़ाता है; और
2. वह अफ्रीकी मूल के लोगों में ज़्यादा पाया जाता है।

इन धारणाओं का न तो उन्होंने कोई परीक्षण किया गया और न ही इस वैकल्पिक संभावना पर विचार किया गया कि जैविक गुणधर्मों पर सामाजिक-सांस्कृतिक अंतरों का असर हो सकता है।

तांग का अध्ययन सामने आने के कुछ समय बाद ही युनिवर्सिटी ऑफ फ्लोरिडा की एमी नॉन ने पारिवारिक रक्तचाप कार्यक्रम के आकड़ों पर दोबारा बारीकी से विचार किया। उन्होंने इस बार विश्लेषण में आनुवंशिक वंश और

रक्तचाप के साथ-साथ शैक्षिक वर्षों (जो व्यवस्थित नस्लीय भेदभाव का एक जाना-माना परिणाम है) को भी शामिल किया। *अमेरिकन जर्नल ऑफ पब्लिक हेल्थ* में प्रकाशित इस विश्लेषण की रिपोर्ट के अनुसार शिक्षा के प्रत्येक अतिरिक्त वर्ष के साथ रक्तचाप में औसतन 0.51 मि.मी. मर्क्युरी की कमी देखने को मिली। जबकि आनुवंशिक वंश से इसका कोई सम्बंध नहीं था।

कोविड-19 महामारी के दौर में इस अध्ययन से पता चलता है कि आनुवंशिक वंश का असर केवल हमारी मान्यताओं के कारण होता है। यदि हम किसी को 'श्वेत' या 'अश्वेत' के रूप में वर्गीकृत करते हैं तो इसके परिणामस्वरूप हम वही जैविक अंतर पैदा कर देते हैं जिसको हम मानना चाहते हैं। यह हमारे डीएनए में किसी गहरे अंतर के कारण नहीं बल्कि हमारी सामाजिक संरचनाओं और व्यवहार पर निर्भर करता है जो कुछ को तो महत्व देता है और अन्य को तुच्छ समझता है। (*स्रोत फीचर्स*)

वर्ग पहली 190 का हल

1मं	दा	2कि	नी	3ए	4ट	ल	5स
ग	ल	6म	न	र	गु	ल	र
ल	7कि	री	ट	8गु	ल	ल	ल
9पा	ला	10र	11सा	य	न	ल	ल
र	12क	ल	गु	ल	गु	ल	ल
13भा	ग	फ	14ल	15त	ना	ल	ल
16को	सी	17क	पा	ल	ल	ल	18आ
य	19न	वा	छ	व	ल	ल	व
20ल	ग	भ	ग	21त	ट	व	ती

लॉकडाउन: शहरी इलाकों में जंगली जानवर

डॉ. डी. बालसुब्रमण्यन

तालाबंदी के इन दिनों में हमने भारत के कई हिस्सों के नगरों, कस्बों और शहरी इलाकों की तरफ 'जंगली' जानवर आने की खबर सुनी। खबर मिली कि उत्तराखंड के हरिद्वार में एक हाथी हरि की पौड़ी के काफी नज़दीक आ गया था। अल्मोड़ा में एक तेंदुआ देखा



गया था। कर्नाटक में हाथी, चीतल और सांभर जंगलों से निकलकर शहरों में आ गए थे, जबकि महाराष्ट्र में लोगों को काफी संख्या में कस्तूरी बिलाव, नेवला और साही झुंड में दिखे। सिर्फ भारत ही नहीं, बल्कि पूरे विश्व में, जहां भी तालाबंदी हुई और रोज़मर्रा की मानव गतिविधियों पर अंकुश लगा, वहां जानवरों का 'सीमा लांघकर' शहरी बस्तियों में आगमन देखा गया। जब यह तालाबंदी हट जाएगी तब उम्मीद होगी कि ये जानवर अपने जंगली परिवेश में वापस लौट जाएंगे - चाहे वह कहीं भी हो, कितना भी सीमित हो।

मामले को परिप्रेक्ष्य में रखने के लिए यह देखिए कि दुनिया का कुल भूक्षेत्र लगभग 51 करोड़ वर्ग किलोमीटर है; इसका लगभग 30 प्रतिशत हिस्सा मरुस्थल है और 24 प्रतिशत हिस्सा पहाड़ी है; शेष लगभग 45-50 प्रतिशत भूक्षेत्र पर हम मनुष्यों का कब्जा है जिस पर हमने लगभग 17,000 साल पहले समुदायों के रूप में रहना शुरू किया। (इसके पहले तक मनुष्य जंगलों में जानवरों और पेड़-पौधों के साथ शिकारी-संग्रहकर्ता के रूप में रहते थे)। इतनी सहस्राब्दियों में, खासकर पिछली कुछ सदियों में, हमने नगर और शहरी इलाके बसाए और 'जंगली' भूमि को 'सभ्य' भूमि में तबदील कर दिया। (ध्यान दें कि आज भी आदिवासी और जनजातीय समुदाय जानवरों और पेड़-पौधों

के साथ जंगलों में रहते हैं)। भौगोलिक-प्राणीविद तर्क देते हैं कि वाकई में हम इंसान ही हैं जिन्होंने अपनी हदें पार कीं और धरती माता के नज़ारे को बदल दिया।

प्रसंगवश, ऐसा केवल ज़मीन पर ही नहीं बल्कि पानी में भी देखने को मिलता है। बीबीसी न्यूज़ ने बताया है कि

कैसे इस्तांबुल में तालाबंदी के दौरान बोस्फोरस समुद्री मार्ग के यातायात में आई कमी के चलते शहर के तटों के करीब अधिक डॉल्फिन देखे गए। इसी तरह, तालाबंदी के दौरान औद्योगिक और मानव अपशिष्ट में हुई कमी के चलते जब पिछले दिनों गंगा का प्रदूषण कम हुआ था तब गंगा में गंगा डॉल्फिन और घड़ियाल (मछली खाने वाले मगरमच्छ) बड़ी संख्या में देखे गए थे। वर्ल्ड वाइल्डलाइफ फंड के मार्को लैम्बर्टिनी ने चिंता जताई है कि पहाड़ी गोरिल्ला विशेष रूप से असुरक्षित हैं। उनका 98 प्रतिशत डीएनए मनुष्यों से मेल खाता है, इसलिए उनमें भी कोविड-19 संक्रमण हो सकता है। अन्य कपियों की तरह पहाड़ी गोरिल्ला भी अपने प्राकृतवास छिन जाने, अवैध शिकार और बीमारियों के कारण विलुप्ति की दहलीज़ पर है - मध्य अफ्रीका के पहाड़ों में केवल 900 पहाड़ी गोरिल्ला बचे हैं।

पांच कारण

इस स्थिति के एक बेहतरीन विश्लेषण, खासकर अमेरिका के विश्लेषण, में बेटेनी ब्रुकशायर ने *Sciencenews.org* के अपने नियमित कॉलम में 5 जून को एक लेख लिखा, जिसका शीर्षक है *कोविड-19 महामारी के दौरान वन्यजीव अधिक दिखाई देने के पांच कारण*। ये पांच कारण हैं: (1) रेस्टॉरेंट बंद हैं और कचरे के ढेर अन्यत्र स्थानांतरित हो

गए हैं, इस मानव जूठन के कारण चूहों और कीटों ने भोजन की तलाश में नई जगहों की तरफ कूच किया; (2) चूँकि बहुत सारे मनुष्य और उनके पालतू जानवर आसपास नहीं हैं, तो हिंसक जानवर और हम जैसे सर्वोच्च शिकारियों का डर नहीं; जिससे शहरी क्षेत्रों में जंगली जानवरों की संख्या बढ़ी; (3) आम पक्षी हमसे नहीं डरते। हम उन्हें चहचहाते और गाते हुए देखते हैं। लॉकडाउन के दौरान माहौल खुशनुमा और शांत था और तब ऐसा देखा गया कि पक्षियों ने अपने गीतों और उनको गाने का समय बदला था। (दी साउंड्स ऑफ़ दी सिटी नामक चल रहा अध्ययन इस विचार का समर्थन करता है); (4) ऋतुएं भी भूमिका निभाती हैं। अमेरिका में, बसंत मार्च से मई के बीच होता है, और तब पक्षी प्रवास करना शुरू कर देते हैं, सांप हाइबरनेशन (शीतनिद्रा) से बाहर आ जाते हैं और भोजन और साथी की तलाश करते हैं। (भारत में भी, खेती का मौसम इसी समय के आसपास शुरू होता है) और अंत में (5) हम खुद भी अन्य समय की तुलना में लॉकडाउन के समय इन सभी विशेषताओं पर अधिक ध्यान दे रहे हैं, और इन सभी को सोशल मीडिया के माध्यम से साझा भी कर रहे हैं।

वैश्विक मानव बंदी प्रयोग

हाल ही में, अमांडा बेट्स और उनके साथियों ने बायोलॉजिकल कंज़र्वेशन पत्रिका के 10 जून के अंक में

प्रकाशित अपने पेपर (कोविड-19 महामारी और तालाबंदी: जैव संरक्षण की पड़ताल के लिए वैश्विक मानव बंदी का एक प्रयोग) में एक रोमांचक और उल्लेखनीय सुझाव दिया है। यह प्रयोग वन्य क्षेत्रों और संरक्षित क्षेत्रों समेत विभिन्न प्राकृतिक तंत्र के क्षेत्रों में मानव उपस्थिति और गतिविधियों के सकारात्मक और नकारात्मक प्रभावों की पड़ताल करने, और जैव विविधता और पारिस्थितिकी तंत्र का नियमन करने वाली प्रक्रियाओं का अध्ययन करने का एक अनूठा अवसर है। लेखक पारिस्थितिकविदों, पर्यावरण वैज्ञानिकों और संसाधन प्रबंधकों का आह्वान करती हैं कि वे विविध डेटा स्रोत और व्यक्तिगत अनुभवों के आधार पर एक व्यापक वैश्विक समझ बनाने के प्रयास में योगदान दें। वे तर्क देती हैं कि विविध डेटा का संगठित महत्व, व्यक्तिगत डेटा के सीमित महत्व से अधिक होगा और नया दृष्टिकोण देगा। हम इस 'मानव बंदी प्रयोग' को प्राकृतिक तंत्र पर मानव प्रभावों का पता लगाने और मौजूदा तंत्र की ताकत और कमज़ोरियों का मूल्यांकन करने के लिए 'तनाव परीक्षण' के रूप में देख सकते हैं। ऐसा करने से मौजूदा संरक्षण रणनीतियों के महत्व के प्रमाण मिलेंगे, और विश्व की जैव विविधता संरक्षण को और बेहतर बनाने के नेटवर्क, वेधशालाएं और नीतियां बनेंगी। मेरा सुझाव है कि भारत को भी इस प्रयोग में शामिल होना चाहिए। (स्रोत फीचर्स)

इस अंक के चित्र निम्नलिखित स्थानों से लिए गए हैं -

Page 08-	https://www.drugtargetreview.com/wp-content/uploads/organoids-4.jpg
Page 18 -	https://blog.emojipedia.org/content/images/2020/06/black-lives-matter-emoji-analysis-emojipedia.jpg
Page 21 -	https://i.ytimg.com/vi/8cj4pbaB3Bg/hqdefault.jpg
Page 25 -	https://ars.els-cdn.com/content/image/1-s2.0-S2589004220303734-fx1.jpg
Page 29 -	https://www.nationalgeographic.com/content/dam/animals/2018/10/betta-fish/01-betta-fish-nationalgeographic_2445745.jpg
Page 30 -	https://alchetron.com/cdn/choanoflagellate-71c048f1-8b29-4487-8a2e-b22e7fe6119-resize-750.jpeg
Page 32 -	https://www.wired.com/images_blogs/wiredscience/2011/08/conching2.jpg
Page 33 -	https://pbs.twimg.com/media/Dxgj31SWwAEfMoA.jpg
Page 34 -	https://encrypted-tbn0.gstatic.com/images?q=tbn%3AANd9GcR1bzCZSXuiMnfhgRmfoaXdnsasEpkm-rliWA&usqp=CAU

हमारा शरीर है सूक्ष्मजीवों का बगीचा

कालू राम शर्मा

जब हम स्वच्छता की बात करते हैं तो यही कहा जाता है कि हाथों की उंगलियों, नाखूनों व हाथों की लकीरों में सूक्ष्मजीव होते हैं। स्वच्छता का पैमाना मात्र इन सूक्ष्मजीवों से छुटकारा पाने का होता है। लोगों को लगता है कि सभी सूक्ष्मजीव रोग फैलाते हैं। लेकिन यह पूरी तौर पर सही नहीं है। हमारे आसपास और हमारे शरीर के अंदर व त्वचा पर कई सूक्ष्मजीव ऐसे होते हैं जो हमारे लिए बेहद ज़रूरी है। बल्कि यह कहा जाए कि हमारी अच्छी सेहत के लिए इनका साथ होना ज़रूरी है, तो गलत न होगा।

हमारे शरीर में बड़ी तादाद में सूक्ष्मजीव बसते हैं। एक अनुमान के मुताबिक इन सूक्ष्मजीवों की संख्या हमारे शरीर की कुल कोशिकाओं से सवा गुना अधिक है। यह दिलचस्प है कि हमारे शरीर में कुल कोशिकाओं में से आधी से ज़्यादा बैक्टीरिया कोशिकाएं हैं।

यह देखा गया है कि 500 से अधिक प्रजातियों के बैक्टीरिया हमारी आंत में पाए जाते हैं। सोचा जा सकता है कि विविधता केवल बाहरी वातावरण में ही नहीं, हमारी आहार नाल में भी है। विभिन्न प्रजातियों के सूक्ष्मजीव जो हमारी आंत में पाए जाते हैं उनके समूह को माइक्रोबायोम कहा जाता है। दिलचस्प यह भी है कि हम जिस भोजन का सेवन करते हैं वह भी हमारी आहार नाल के माइक्रोबायोम को प्रभावित करता है।

विकास के दौरान सूक्ष्मजीवों ने सहभोजी रिश्ता कायम किया। बिना सूक्ष्मजीवों के मानव का अस्तित्व संकट में हो सकता है। इस कहानी में जीवाणुओं ने भी अहम भूमिका अदा की। *बायफिडोबैक्टीरिया* इनमें से एक है।

जन्म के बाद शिशु जब मां का दूध पीता है तो उसे पचाने वाले *बायफिडोबैक्टीरिया* आहार नाल में पनपने लगते हैं। ये शर्कराओं को पचाने का लाभदायक काम करते हैं जो शरीर की वृद्धि में सहायक होता है। जैसे-जैसे हम बड़े होते जाते हैं, कुछ बैक्टीरिया भोजन में वनस्पति रेशों को पचाने में भूमिका अदा करते हैं जो हमारी आंत के लिए अहम होते

हैं। रेशे हमें अधिक वज़नी होने से बचाते हैं। साथ ही मधुमेह, दिल की बीमारी व कैंसर के खतरों से भी बचाते हैं।

आहार नाल का माइक्रोबायोम रोगों से लड़ने की क्षमता को बढ़ाता है। इतना ही नहीं, नए अध्ययनों में यह बात भी सामने आई है कि आहार नाल का माइक्रोबायोम केंद्रीय तंत्रिका तंत्र को भी नियंत्रित करता है।

जन्म के पूर्व शिशु की आहार नाल सूक्ष्मजीवों से रहित होती है। सामान्य प्रसव के दौरान शिशु योनि मार्ग से गुज़रते हुए सूक्ष्मजीवों के संपर्क में आता है और मुंह के रास्ते ये उसकी आंत में प्रवेश कर जाते हैं। हालिया शोध बताते हैं कि सिज़ेरियन प्रसव से जन्मे शिशुओं की आहार नाल में सूक्ष्मजीव विविधता सामान्य जन्म लेने वाले शिशुओं से कम होती है। जो बच्चे सामान्य प्रसव (योनि मार्ग से प्रसव) से जन्म लेते हैं उन शिशुओं की आंत में *लैक्टोबेसिलस*, *प्रोटेला*, *बायफिडोबैक्टीरियम*, *बैक्टेरॉइड्स* और *एटोपोबियम* पाए जाते हैं। ये सूक्ष्मजीव सिज़ेरियन प्रसव से जन्मे शिशुओं में नहीं पाए जाते। सिज़ेरियन प्रसव से जन्मे शिशुओं में मुख्य रूप से *क्लॉस्ट्रीडियम डिफिसाइल*, *ई.कोली* व *स्ट्रोप्टोकोकाई* जैसे बैक्टीरिया पाए जाते हैं। जैसे-जैसे शिशु बड़ा होने लगता है उसकी आहार नाल के माइक्रोबायोम की विविधता बढ़ती जाती है। यह देखा गया है कि जिनकी आहार नाल में माइक्रोबायोम की विविधता अधिक होती है, वे अधिक स्वस्थ रहते हैं।

बायफिडोबैक्टीरियम अचल किस्म के ग्राम-पाज़िटिव बैक्टीरिया हैं, जिनमें अनाॅक्सी श्वसन होता है। सन 1900 के दौरान हेनरी टिसियर ने नजवात शिशु के मल में *बायफिडोबैक्टीरिया* देखा था। इसके ठीक बाद टिसियर के साथी मेचनीकोव का ध्यान टिसियर द्वारा खोजे गए बैक्टीरिया की ओर गया। मेचनीकोव तब किण्वित दूध पर काम कर रहे थे। मेचनीकोव पहले व्यक्ति थे जिन्होंने बताया कि दही, छाछ जैसी चीज़ें हमारी सेहत के लिए काफी फायदेमंद हैं। मेचनीकोव ने किण्वित दूध को प्रोबायोटिक कहा। इसका

अर्थ है ऐसे खाद्य पदार्थ जिसमें कुछ सूक्ष्मजीव होते हैं जो हमारे शरीर को भोजन पचाने में मदद करते हैं, तंत्रिका तंत्र को मजबूत करते हैं और हमें तंदुरुस्त व दीर्घायु बनाते हैं। इसी शोध के लिए मेचनीकोव को 1908 में नोबल पुरस्कार मिला था।

स्तनपान करने वाले शिशुओं में *बायफिडोबैक्टीरिया* की किण्वक व अम्लीय प्रकृति और मानव पोषण और पेट के स्वास्थ्य के बीच लाभदायक सम्बंध को काफी पहले पहचान लिया गया था और यह प्रचारित भी खूब हो रहा था। प्रोबायोटिक आहार का जितना महत्व आज है उतना ही तब भी हुआ करता था। हालांकि *बायफिडोबैक्टीरिया* के साथ ही अन्य *स्ट्रेप्टोकोकस*, *एंटेरोकोकस*, *यीस्ट* और अन्य सूक्ष्मजीवों ने भी प्रोबायोटिक के इस्तेमाल की ओर ध्यान खींचा। इसके बाद इस पर व्यापक अध्ययन हुए। न केवल मनुष्यों में बल्कि इसके बेहतर प्रभावों को पालतू पशुओं में भी पहचाना गया और प्रोबायोटिक संस्कृति को अपनाया जाने लगा।

नेशनल इंस्टीट्यूट ऑफ हेल्थ (एनआईएच) द्वारा 2007 में *ह्यूमन माइक्रोबायोम प्रोजेक्ट* (एचएमपी) की स्थापना मानव कल्याण के लिए माइक्रोबायोम के प्रभाव का अध्ययन करने और विशेषज्ञता को बढ़ावा देने के मकसद से की गई थी ताकि विशिष्ट बीमारियों में इनकी भूमिका को रेखांकित किया जा सके। परियोजना के पहले चरण में सूक्ष्मजीवों के प्रकार (बैक्टीरिया, फंफूंद और वायरस) के संदर्भ में डैटाबेस तैयार किया गया जो शरीर के पांच विशिष्ट हिस्सों पर केंद्रित था - त्वचा, मुखगुहा, श्वसन मार्ग, आहार नाल व मूत्र-जनन मार्ग। परियोजना का लक्ष्य यह समझना था कि शरीर को नुकसान पहुंचाने वाले सूक्ष्मजीवों की जेनेटिक

संरचना में बदलाव करके इन्हें कैसे लाभदायक सूक्ष्मजीवों में बदला जा सकता है।

उल्लेखनीय है कि इस परियोजना को भारत में भी प्रारंभ किया जा चुका है। भारतीय लोगों के शरीर के विभिन्न अंगों जैसे त्वचा, लार, रक्त व मल में सूक्ष्मजीवों के वास का अध्ययन किया जा रहा है। यह देशव्यापी अध्ययन है जिसमें केंद्र सरकार ने 150 करोड़ रुपए का निवेश किया है। इस अध्ययन में भारत की 32 जनजातियों को भी शामिल किया गया है।

इस परियोजना में सूक्ष्मजीव संसार का विश्लेषण करने के लिए मानव जीनोम परियोजना द्वारा विकसित डीएनए सिक्वेंसिंग का इस्तेमाल किया गया है।

दरअसल, मानव एक जीव ही नहीं है बल्कि वह एक पारिस्थितिकी तंत्र भी है। इसमें इन सारे सूक्ष्मजीवों के जीनोम मौजूद हैं जिसे माइक्रोबायोम कहते हैं। ऐसे अनेक काम हैं जो हमारे जीनोम में अंकित नहीं हैं। इन कार्यों को हम माइक्रोबायोम की मदद से करते हैं। हर सूक्ष्मजीव अपना-अपना काम करता है और पूरे इकोसिस्टम में योगदान देता है। वैसे यह दिलचस्प है कि जो सूक्ष्मजीव हमारी आहार नाल में बसते हैं वे हमारे जीनोम से कुछ जीनों का इस्तेमाल अपनी कार्यप्रणाली के लिए करते हैं। दरअसल, सूक्ष्मजीवों व मानव के बीच का यह रिश्ता साझेदारी व सहयोग का है। दोनों पक्ष एक-दूसरे को लाभ पहुंचाते हैं। जैसे हमारे द्वारा जिस कार्बोहाइड्रेट का पाचन नहीं हो पाता है उन्हें ये सूक्ष्मजीव पचाते हैं या विटामीन बी का संश्लेषण हमारी आंत के बैक्टीरिया ही करते हैं। और आंत में जिस भोजन का पाचन होता है उसका फायदा ये सूक्ष्मजीव भी उठाते हैं। (स्रोत फीचर्स)

छरहरे बदन का जीन

वैज्ञानिकों ने एक ऐसे जीन का पता लगाया है जिसका उत्परिवर्तित रूप तो कैंसर का कारण बनता है लेकिन उसका सामान्य रूप व्यक्ति को अपने शरीर की ज्यादा चर्बी को जलाकर छरहरा बने रहने में मदद करता है।

यह देखा गया है कि कुछ लोग खूब खाएं, जो मर्ज़ी खाएं, तो भी मोटे नहीं होते। आम तौर पर जब मोटापे की

बात होती है तो ध्यान इस बात पर होता है कि व्यक्ति क्या व कितना खाता है। लेकिन *सेल* नामक शोध पत्रिका में प्रकाशित नया शोध बताया है कि मोटापे और छरहरेपन का नियंत्रण जेनेटिक स्तर पर भी होता है।

ब्रिटिश कोलंबिया विश्वविद्यालय के जेनेटिक विज्ञानी जोसेफ पेनिजर और उनके साथियों ने मोटापे के जेनेटिक

आधार खोजने के प्रयास किए। इसके लिए उन्होंने एस्टोनिया के जीनोम सेंटर में उन लोगों की जीनोम जानकारी खंगाली जो सबसे दुबले-पतले बताए गए थे। इसमें से उन्होंने उन लोगों को छांटकर अलग कर दिया जिनके बारे में कहा गया था कि उनमें भूख न लगने (एनोरेक्सिया) या कोई अन्य दिक्कत थी जिसकी वजह से वे दुबले रह जाते हैं।

शेष छरहरे लोगों में उन्होंने जेनेटिक समानता के विंह खोजना शुरू किया। इस संदर्भ में एक खास जीन ने उनका ध्यान आकर्षित किया - एक एंजाइम एनाप्लास्टिक लिम्फोमा काइनेज़ यानी *ALK* का जीन। यह तो पहले से पता था कि डीएनए के इस खंड का उत्परिवर्तित रूप कैंसर से सम्बंधित है। लेकिन मज़ेदार बात यह थी कि किसी ने नहीं सोचा था कि इसका सामान्य रूप क्या काम करता है।

तो पेनिंजर और उनके साथियों ने उत्परिवर्तित फल मक्खी और उत्परिवर्तित चूहों का निर्माण किया। वे यह दर्शाना चाहते थे कि जो जीन मनुष्यों को छरहरा रखता है

वह मक्खियों और चूहों में भी वैसा ही असर दिखाता है। देखा गया कि *ALK* जीन की उपस्थिति की वजह से ये उत्परिवर्तित मक्खियां और चूहे दुबले बने रहते हैं, हालांकि वे कम तो बिलकुल नहीं खाते।

शोधकर्ताओं का मत है कि *ALK* जीन मस्तिष्क पर क्रिया करता है जिसके असर से मस्तिष्क वसा कोशिकाओं को ज़्यादा वसा जलाने का निर्देश देता है। चूंकि यह जीन मक्खियों, चूहों और मनुष्यों, सबमें कारगर होता है, इसलिए ऐसा लगता है कि यह जैव विकास के इतिहास में बहुत समय से मौजूद रहा है। यह दुबलेपन के अनुसंधान में नया अध्याय जोड़ सकता है।

वर्तमान में भी ऐसी दवाइयां उपलब्ध हैं, जो कैंसरकारी *ALK* की क्रिया को बाधित करती हैं। यानी *ALK* को औषधियों के लिए एक उपयुक्त लक्ष्य माना जाता है। तो हो सकता है कि इसके आधार पर हमें छरहरे बने रहने के लिए गोली मिल जाए। (*स्रोत फीचर्स*)

साबुन के बुलबुलों की मदद से परागण

परागणकर्ताओं के रूप में मधुमक्खियों की बराबरी करना मुश्किल है। लेकिन वैज्ञानिक इनके कुशल कृत्रिम विकल्प खोजने में लगे हुए हैं। और अब शोधकर्ता साबुन के बुलबुले से परागण कराने में सफल हुए हैं।

दरअसल तापमान कम हो तो मधुमक्खियां परागण नहीं करतीं, तब किसानों को कृत्रिम तरीकों से फूलों का परागण करना पड़ता है। ऐसे ही विकल्प के प्रयास में 2017 में जापान एडवांस्ड इंस्टीट्यूट ऑफ साइंस एंड टेक्नॉलॉजी के पदार्थ-रसायनज्ञ इजिरो मियाको और उनके साथियों ने रिमोट संचालित एक छोटे ड्रोन में घोड़े के बाल चिपकाकर उन पर एक विशेष जेल लगा दी। विचार था कि मधुमक्खी की तरह बाल पर चिपककर परागण एक फूल



से दूसरे फूल पर पहुंच जाएंगे। ड्रोन ने फूलों को परागित तो किया मगर इसके पंखों ने फूलों को नुकसान भी पहुंचाया। फिर, जब मियाको अपने बेटे के साथ साबुन के बुलबुले बना रहे थे तो उन्हें ऐसे बुलबुलों की मदद से परागण करने का विचार आया।

उन्होंने बुलबुलों के लिए एक ऐसा डिजिटल चुना जो पराग कणों के अंकुरण को कम से कम प्रभावित करता हो। प्रयोगशाला में उन्होंने परागण से भरे बुलबुलों की बौछार नाशपाती के फूलों पर की। जब बुलबुले फूटे तो परागण वर्तिकाग्र पर पहुंचे और पराग नलिकाएं बनीं। लेकिन अगर 10 से ज़्यादा बुलबुले फूल से टकराते हैं तो नलिकाएं सामान्य से छोटी बनती हैं, जो शायद साबुन का घोल

का प्रतिकूल प्रभाव हो सकता है।

इसके बाद उन्होंने नाशपाती के एक बाग में तीन पेड़ों के फूलों पर पराग से भरे बुलबुलों की बौछार की। 16 दिनों के बाद इन फूलों से आए फल उतने ही अच्छे थे जितने कृत्रिम परागण करने पर आते हैं। जापान में कुछ किसान नाशपाती और सेब के फूलों को पारंपरिक रूप से ब्रश से परागित करते हैं। *iScience* पत्रिका में शोधकर्ताओं ने बताया है कि ब्रश से एक फूल को परागित करने में लगभग 1800 मि.ग्रा. पराग लगता है, वहीं बुलबुले से महज 0.06 मि.ग्रा. में काम हो जाता है। यानी बुलबुलों से परागण करने में किसानों को बहुत कम पराग जमा करना होगा।

इसके बाद मियाको ने एक बबल गन को ड्रोन से जोड़ा और ड्रोन को नकली लिली के फूलों की कतार के चारों ओर एक मार्ग में उड़ने के लिए प्रोग्राम किया। उन्होंने पाया कि ड्रोन बुलबुले 90 प्रतिशत फूलों को परागित कर सकते

हैं। लेकिन ड्रोन के साथ समस्या यह आई कि कई बुलबुले अपने लक्ष्य से चूक गए, जिससे परागकण बेकार गए। मियाको बेहतर लक्ष्य साधने वाले ड्रोन पर काम रहे हैं। इसके अलावा वे जैव-विघटनशील पर्यावरण हितैषी साबुन के लिए प्रयासरत हैं।

वेस्ट वर्जीनिया विश्वविद्यालय के रोबोटिक विशेषज्ञ यू गु को लगता है कि ड्रोन के रोटर से चलने वाली हवा के कारण बुलबुले का निशाना साधना मुश्किल होगा। ज़मीन पर चलने वाले रोबोट बेहतर विकल्प हो सकते हैं।

कुछ वैज्ञानिकों ने इन प्रयासों पर चिंता व्यक्त की है। उनके अनुसार इस तरह के प्रयास कम हो रहीं मधुमक्खियों के संरक्षण से ध्यान भटकाएंगे, परागण में रासायनिक हस्तक्षेप और मिट्टी प्रदूषण के खतरे बढ़ाएंगे। हम परागण के इससे कहीं अधिक प्रभावी और टिकाऊ तरीके ढूंढ सकते हैं। (**स्रोत फीचर्स**)

डायनासौर के अंडों का रहस्य सुलझा

पंद्रह साल पहले अमेरिकी प्राकृतिक इतिहास संग्रहालय के जीवाश्म विज्ञानी मार्क नॉरेल को दक्षिणी मंगोलिया में *प्रोटोसेराटॉप्स* डायनासौर के कम से कम एक दर्जन भ्रूण फ़ोज़न अवस्था में मिले थे। लेकिन उनमें कुछ तो अजीब बात थी। ऐसा लगता था जैसे नन्हे डायनासौर अदृश्य अंडे के अंदर गुड़ी-मुड़ी होकर पड़े हैं। हर नन्हे डायनासौर के कंकाल के आसपास की चट्टान पर एक रहस्यमयी सफेद वलय थी। अब इतने समय के बाद नॉरेल और उनके साथियों ने इन वलय के रहस्य को सुलझा लिया है। ये वलय डायनासौर के अंडों की मुलायम खोल थीं।

इस रहस्य को सुलझाने के लिए नॉरेल और येल विश्वविद्यालय की आणविक पुराजीव विज्ञानी जैस्मिना वीमन ने मंगोलिया से प्राप्त 7.5 करोड़ साल पुराने *प्रोटोसेराटॉप्स* डायनासौर के जीवाश्मित अंडों के दो समूहों और 21.5 करोड़ वर्ष पुराने *मुसासौरस* के अंडों के एक समूह का एक नई तकनीक की मदद से विश्लेषण किया। उन्होंने अंडों को लेज़र प्रकाश में रखा और देखा कि लेज़र प्रकाश अंडों की सतह से टकराने पर कैसे बदलता है। इससे अंडों के खोल

की रासायनिक संरचना के बारे में पता चला। यह तो हम जानते हैं कि आधुनिक मुलायम खोल वाले अंडों की आणविक संरचना सख्त खोल वाले अंडों की आणविक संरचना से अलग होती है। विश्लेषण में पता चला कि *प्रोटोसेराटॉप्स* और *मुसासौरस*, दोनों के अंडे के चारों ओर की वलय की संरचना मुलायम खोल वाले अंडों के समान थी।

डायनासौर के अस्तित्व के शुरुआती दौर में *मुसासौरस* रहते थे इसलिए शोधकर्ताओं का अनुमान है कि शुरुआती डायनासौर मुलायम खोल वाले अंडे देते होंगे। लेकिन डायनासौर के अस्तित्व के अंतिम दौर यानी 6.6 करोड़ वर्ष पूर्व जीवित रहे *प्रोटोसेराटॉप्स* के घोंसले से पता चलता है कि इस समय तक भी कुछ प्रजातियां मुलायम खोल वाले अंडे देती थीं, जबकि डायनासौर की अन्य प्रजातियां सख्त खोल वाले अंडे देने के लिए विकसित हो चुकी थीं।

संभवतः मुलायम खोल वाले अंडे देने वाले डायनासौर अंडों को ज़मीन में गाड़ते होंगे ताकि जब भारी-भरकम मां इन नाजूक अंडों पर बैठें तो वे दब कर टूट ना जाएं। ज़मीन में गाड़ने से अंडे सूखने से भी बचेंगे। अंडों को मादा

डायनासौर द्वारा जमीन में गाड़ने से अंडों को कम गर्मी मिलती होगी जिससे उनका विकास धीमी गति से होता होगा। इसके चलते अंडों से निकलने वाले बच्चे ज्यादा विकसित अवस्था में होते होंगे। अतः पालकों को नवजात

की कम देखभाल करना पड़ती होगी। पूर्व में हुए अध्ययन बताते हैं कि डायनासौर के करीबी पंखों वाले सरीसृप टैरोसौर के शिशु अंडों से निकलने के तुरंत बाद उड़ने में सक्षम होते हैं। (स्रोत फीचर्स)

मौसम पूर्वानुमान की समस्याएं

नरेंद्र देवांगन

साल 2002 में औसत बारिश में कमी या सूखे का पूर्वानुमान भारत या विदेश का कोई भी संस्थान नहीं लगा पाया था। इसे मौजूदा मॉडल में पूरे विश्व में चुनौती माना गया। सवाल यह है कि गर्मी की शुरुआत में आज से 35-40 साल पहले भी आंधी-तूफान आते रहे हैं, जिसे पूर्वी भारत में काल बैसाखी कहते हैं। लेकिन पहले तूफान से तबाही नहीं मचती थी। फिर अब ऐसा क्या होता है कि एक दिन के तूफान से ही तबाही मच जाती है? इसे ठीक से समझने के लिए तीन बातों पर गौर करना होगा।

कोई भी आंधी-तूफान दो चीजों से ऊर्जा लेती हैं - गर्मी व हवा की नमी की मात्रा। ये दोनों चीजें जितनी ज्यादा होंगी, तूफान की मारक क्षमता उतनी ही बढ़ेगी। पहले मई माह के बाद ही तेज़ गर्मी पड़ती थी। पर अब मार्च-अप्रैल महीने में ही उत्तर, पश्चिम और दक्षिण भारत के काफी बड़े हिस्से में तापमान 40 डिग्री सेल्सियस या इससे ऊपर पहुंच जाता है। इससे हवा की गति बढ़ जाती है। साथ ही पश्चिमी विक्षोभ भी मौजूद रहता है और बंगाल की खाड़ी से नमी लेकर हवा भी आ पहुंचती है।

इन सबकी वजह से तूफान आने की स्थिति बनती है। पिछले तीन-चार दशक से तापमान लगातार बढ़ रहा है। यह हवा की गति को भी बढ़ा रहा है। 1979-2013 की अवधि में मौसम उपग्रह के रिकार्ड से पता चला कि धरती का ऊष्मा इंजन अब पहले से ज्यादा सक्रिय हो चुका है। परिणामस्वरूप तूफान-बवंडर ज्यादा शक्तिशाली बन रहे हैं। आज ज़रूरत है इनको समय से पूर्व जानकर देश की जनता और शासन-प्रशासन को सावधान करने की।

मौसम का पूर्वानुमान तभी सफल हो पाता है जब उसे

स्थान और काल की बारीकी से बताया जा सके। भारतीय मौसम विभाग अभी इस काम को करने में पूरी तरह से परिपक्व नहीं हो सका है। मानसून के बारे में मौसम विभाग का अनुमान हमारे किसी काम का नहीं होता क्योंकि वह सिर्फ औसत बताता है। औसत तो तब भी बरकरार रहेगा जब किसी इलाके में सूखा पड़े और किसी में अतिवृष्टि हो जाए। लेकिन दोनों स्थितियों में नुकसान तो हो ही जाएगा। उन्हें स्थानीय स्तर पर जल्दी-जल्दी पूर्वानुमान बताना चाहिए ताकि तैयारी करने का समय मिल सके।

मौसम के पूर्वानुमान के लिए अलग-अलग मॉडल पर आधारित 5 तरह के पूर्वानुमान का इस्तेमाल कृषि, यातायात, जल प्रबंधन आदि के लिए किया जाता है। सही मायने में 5 दिन का पूर्वानुमान 60 फीसदी तक सही हो पाता है। ये पांच तरह के हैं -

1. तात्कालिक (नाउकास्ट) - अगले 24 घंटे का आकलन
2. लघु अवधि - 3 दिनों का पूर्वानुमान
3. मध्यम अवधि - 3-10 दिनों का पूर्वानुमान
4. विस्तारित अवधि - 10-30 दिनों का पूर्वानुमान
5. दीर्घ अवधि - मानसून का पूर्वानुमान

इस संदर्भ में मराठवाड़ा में कुछ किसानों ने पुलिस केस दर्ज कराया है। उनका कहना है कि मौसम विभाग द्वारा महाराष्ट्र या मराठवाड़ा (8 ज़िला क्षेत्र) के अनुमान से भी उन्हें लाभ नहीं होता, क्योंकि एक ज़िले में भी बारिश कभी एक समान नहीं होती। इसलिए कृषि के लिए ब्लॉक आधारित सूचना की ज़रूरत है। विशेषज्ञों के अनुसार मौसम विभाग को पूरे देश को छोटे-छोटे ज़ोन में बांटना चाहिए और हर ज़ोन के लिए दीर्घावधि पूर्वानुमान जारी करने चाहिए।

मौसम विभाग ज़िला आधारित पूर्वानुमान जारी करता है। हालांकि इनमें भी सफलता दर कम है। अगर मौसम विभाग पूर्वानुमान जारी करते हुए बताता है कि किसी ज़िले में अलग-अलग क्षेत्रों में बारिश होगी तो इसका अर्थ होता है कि उस जिले के 26-50 फीसदी हिस्से में बारिश होगी। इसमें भी उन क्षेत्रों की पहचान नहीं की जाती। मौसम विभाग तापमान, आर्द्रता, हवा की गति और वर्षण आदि के आंकड़े इकट्ठे करता है। देश में 679 स्वचालित मौसम केंद्र, 550 भू वेधशालाएं, 43 रेडियोसॉंड (मौसमी गुब्बारे), 24 राडार और 3 सेटेलाइट हैं, जो दूसरे देश के सेटेलाइट आंकड़े भी जुटाते रहते हैं।

अति आधुनिक गतिशील मॉडल (डायनैमिक मॉडल) पर आधारित पूर्वानुमान भी भारत में गलत हो जाते हैं। ब्लॉक स्तर तक के मौसम पूर्वानुमान के लिए ज़रूरी है कि ब्लॉक स्तर तक के आंकड़े जुटाए जाएं। संसाधन काफी कम हैं। धूल, एरोसॉल, मिट्टी की आर्द्रता और समुद्र से जुड़े डेटा में भारी अंतर हैं। वर्षापात के आंकड़े जुटाने के लिए देश में कम से कम 20 और राडार चाहिए ताकि व्यापक आंकड़े जुटाए जा सकें। मौसम पूर्वानुमान के मॉडल की विफलता के बड़े कारण घटिया यंत्र भी हैं। एक मौसम विज्ञानी के अनुसार पैसे बचाने के लिए कई स्वचालित मौसम केंद्र घटिया स्तर के खरीदे गए थे। दूसरा मौजूदा मॉडल के उचित रखरखाव में कमी भी बड़ी समस्या है। इन्हें थोड़े-थोड़े अंतराल पर साफ करके स्केल से मिलाना होता है। वास्तव में ऐसा हो नहीं पाता। इससे कई डेटा गलत आते हैं। पूर्वानुमान के लिए इस्तेमाल किए जा रहे अधिकांश मॉडल विदेशों में विकसित हुए हैं जिनमें स्थानीय ज़रूरत के अनुसार बदलाव करके उपयोग किया जा रहा है।

ऊष्ण कटिबंधीय वातावरण बहुत तेज़ी से बदलता रहता है। यह कभी स्थिर नहीं रहता। दरअसल ऊष्ण कटिबंधीय मौसम के व्यवहार का अभी उचित अध्ययन हो ही नहीं सका है।

पर्याप्त संख्या में मौसम विज्ञानी नहीं हैं। एकमात्र आईआईएससी के स्नातक ही मौसम केंद्र से जुड़ते हैं। मौजूदा मॉडल और मौसम विज्ञानियों की उपलब्धता के आधार पर देखें तो एक दिन के पूर्वानुमान की गणना करने में 10 वर्षों का समय लग सकता है।

आम तौर पर माना जाता है कि मानसून के अप्रत्याशित व्यवहार के पीछे बढ़ता वैश्विक तापमान है। लेकिन वैज्ञानिक साक्ष्य नहीं मिले हैं।

तमाम आलोचनाओं के बीच मौसम विभाग द्वारा जारी आंकड़ों में सुधार आए हैं। पहले की तुलना में बेहतर तकनीक और नए मॉडलों का प्रभाव, धीरे-धीरे ही सही, दिखने लगा है। दीर्घावधि औसत में 2003-15 के दौरान मौसम के पूर्वानुमान में 5.92 प्रतिशत की अशुद्धता दर्ज की गई थी, जो 1990-2012 के बीच 7.94 प्रतिशत थी। 1988-2008 के बीच पूर्वानुमान 90 प्रतिशत सही रहा। यानी 20 में से 19 वर्षों में।

बढ़ते मौसमी खतरे को देखते हुए हमें अपने पूर्वानुमान की सूक्ष्मता को बढ़ाना होगा। तूफान और बवंडर के लिए डॉप्लर राडार ज्यादा उपयोगी है। अफसोस इस बात का है कि इनकी देश में कमी है। 2013 की उत्तराखंड आपदा में भी इनकी कमी सामने आई। यदि डॉप्लर राडार होता तो ज्यादा बारीकी से तूफान का पता लगाकर चेतावनी दी जा सकती थी। अगर आने वाले खतरे को नजरअंदाज करते रहेंगे तो भारी कीमत चुकानी पड़ेगी। (स्रोत फीचर्स)

स्रोत के ग्राहक बनें, बनाएं

वार्षिक सदस्यता

व्यक्तिगत 300 रुपए

संस्थागत 300 रुपए

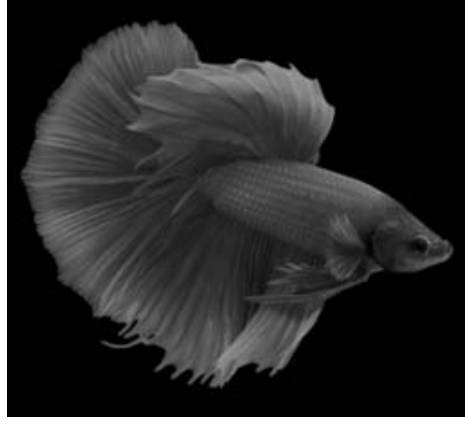
सदस्यता शुल्क एकलव्य, भोपाल के नाम ड्राफ्ट या मनीऑर्डर से
एकलव्य, जमनालाल बजाज परिसर, जाटखेड़ी, भोपाल 462026
के पते पर भेजें।

लड़ते-लड़ते मछलियां जीन्स में तालमेल बैठाती हैं

मुक्केबाज़ी का मुकाबला देखते हुए किसी के मन में यह ख्याल नहीं आता कि इस वक्त लड़ाकों के दिमाग के जीन्स में क्या हो रहा है। लेकिन लड़ाकू मछलियों पर हुए ताज़ा अध्ययन से पता चला है कि मछलियों की कुशती के वक्त उनके मस्तिष्क के जीन्स तालमेल से काम करना शुरू और बंद करते हैं। हालांकि यह अभी स्पष्ट नहीं है कि ये जीन करते क्या हैं या वे लड़ाई को कैसे प्रभावित करते हैं, लेकिन संभावना है कि मनुष्यों में भी इसी तरह के बदलाव होते होंगे।

मोबब्त हो या जंग, मनुष्यों सहित सभी जानवरों को हर परिस्थिति में अच्छा प्रदर्शन करना होता है लेकिन वे ऐसा कैसे कर पाते हैं इसका आणविक कारण अब तक एक रहस्य बना हुआ है। जापान के कितासातो विश्वविद्यालय के आणविक जीव विज्ञानी नोरिहिर्रो ओकाडा को टीवी पर सियामीज़ लड़ाकू मछलियों (*बेट्टा स्प्लेंडेंस*) की लड़ाई देखकर लगा कि ये मछलियां इस रहस्य को सुलझाने में मदद कर सकती हैं। मूलतः थाईलैंड में पाई जाने वाली, गोल्ड फिश के आकार की इन मछलियों के पंख और पूंछ बहुत बड़े और चटख रंग के होते हैं। इन्हें खासकर एक्वेरियम में रखने के लिए पाला जाता है लेकिन इनके लड़ाकू स्वभाव के कारण एक्वेरियम में इन्हें अलग-अलग रखने की सलाह दी जाती है। ये मछलियां अपना इलाका बनाती हैं, और इनकी लड़ाई 1 घंटे से भी अधिक समय तक चल सकती है जिसमें ये एक-दूसरे पर वार करती हैं, काटती हैं और पीछा करती हैं। यहां तक कि हमारे पंजा लड़ाने की तरह ये जबड़ा लड़ाती हैं।

ओकाडा की टीम ने मछलियों की 17 विभिन्न कुशतियों के लगभग 12 घंटे के वीडियो बनाकर विश्लेषण किया कि



हर लड़ाई में क्या-क्या हुआ और कब हुआ। *प्लॉस जेनेटिक्स* पत्रिका में वे बताते हैं कि लड़ाई जितनी अधिक लंबी होती है, मछलियों के व्यवहार में आपस में उतना ही अधिक तालमेल होता जाता है - उनके घूमने, वार करने और काटते समय भी। तालमेल की हद देखिए कि लगभग 80 मिनट की लड़ाई में हर दांव के बीच उन्होंने 'परस्पर सहमति से' विराम लिया। जब

मछलियां एक-दूसरे से जबड़ा लड़ाती हैं तब मुकाबला 5 से 10 मिनट के लिए गहराता है, इस दांव में सांस रोकना पड़ता है और इसी से तय होता है कि कौन लंबे समय तक जबड़े का दांव जारी रख सकता है। 5-10 मिनट बाद ये मछलियां सांस लेने के लिए एक-दूसरे से अलग होती हैं और फिर भिड़ जाती हैं।

शोधकर्ताओं ने यह भी पाया कि व्यवहार में यह तालमेल आणविक स्तर पर भी होता है। शोधकर्ताओं ने 20 मिनट और 60 मिनट में पूरी होने वाली 5-5 कुशतियों में, लड़ाई के पहले और बाद में देखा कि उस वक्त मछलियों के मस्तिष्क के कौन से जीन्स सक्रिय थे। टीम ने पाया कि 20 मिनट वाली लड़ाई में हर मछली में कुछ समान जीन्स, 'इंटरमीडिएट एर्ली जीन' ने काम करना शुरू किया था। ये जीन्स अन्य जीन्स को सक्रिय करने का काम करते हैं। 60 मिनट वाली लड़ाई में इन जीन्स के अलावा सैकड़ों अन्य जीन्स में समन्वय देखा गया। मछली के हर जोड़े में प्रत्येक जीन के सक्रिय होने का एक खास समय था जिससे लगता है कि मछली का परस्पर संपर्क इन परिवर्तनों का समन्वय करता है।

अन्य अध्ययनों के अनुसार स्तनधारियों का परस्पर संपर्क मस्तिष्क गतिविधि में तालमेल बैठाता है। यह शोध इस बात को एक नया आयाम देता है। (**स्रोत फीचर्स**)

बहु-कोशिकीय जीवों का एक-कोशिकीय पूर्वज

डॉ. डी. बालसुब्रमण्यन

पृथ्वी पर जीवन के शुरुआती रूप की चर्चा करते हुए अमेरिका का स्मिथसोनियन संस्थान बताता है कि ऑक्सीजन रहित और मीथेन की अधिकता वाला वातावरण जंतुओं के जीवन के लिए उपयुक्त नहीं था। फिर भी इस वातावरण में ऐसे सूक्ष्मजीव रह सकते थे जो सूर्य के प्रकाश का सामना कर, इसकी मदद से जीवित रहने के लिए ऊर्जा उत्पन्न करने में सक्षम थे।

पृथ्वी पर ऐसा वातावरण आज से लगभग 3.4 अरब साल पहले और पृथ्वी के अस्तित्व में आने के लगभग एक अरब साल बाद था। अपने भोजन बनाने की प्रक्रिया में सूक्ष्मजीवों ने ऑक्सीजन नामक गैसीय गौण उत्पाद बनाया। इस 'महान ऑक्सीकरण घटना' की बदौलत इसके लगभग 2 अरब साल बाद ऑक्सीजन पृथ्वी की सतह का एक महत्वपूर्ण घटक बन गई और पृथ्वी जीवों के जीवन के अनुकूल हो गई।

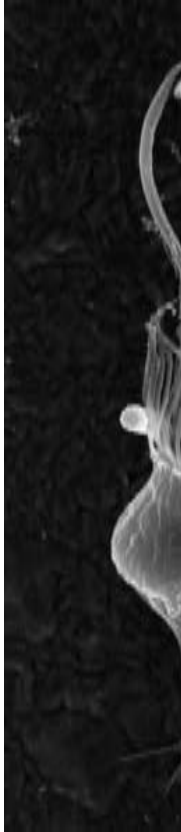
इस ऑक्सीजन का बाहरी ऊर्जा के रूप में उपयोग करके जंतु कोशिकाएं अपने शारीरिक विकास और संख्या वृद्धि के लिए भोजन बना सकती हैं। लेकिन इसके लिए उनकी शारीरिक रचना और जीव विज्ञान में तबदीली की ज़रूरत थी (बहु-कोशिकता के उद्भव और उसकी ज़रूरत पर एक उत्कृष्ट सारांश टी. केवेलियर-स्मिथ द्वारा *रॉयल सोसायटी बी* में प्रकाशित किया गया है, इसे आप इस लिंक पर पढ़ सकते हैं: <<https://doi.org/10.1098/rstb.2015.0476>>)। वे यह भी बताते हैं कि क्यों एक एक-कोशिकीय जीव (कोएनोफ्लैजिलेट) का उपयोग मनुष्य जैसे बहु-कोशिकीय जीवों के जैव विकास और विविधीकरण का अध्ययन करने के लिए एक मॉडल के रूप में किया जा सकता है। कोएनोफ्लैजिलेट जंतुओं के ऐसे सबसे करीबी जीवित रिश्तेदार हैं जो लगभग एक अरब साल पहले अस्तित्व में आए थे। कोएनोफ्लैजिलेट जंतुओं के सबसे करीबी रिश्तेदार माने जाते हैं। इनके अंडाकार शरीर पर एक चाबुक जैसा उपांग (कशाभ) होता है जिसके आधार

पर एक कीप जैसी कॉलर होती है। इसलिए इन्हें कीप-कशाभिक भी कहते हैं। ये अकेले भी रहते हैं और कॉलोनियों में भी।

पिछले कुछ समय में हुए जीनोम अनुक्रमण के प्रयासों की बदौलत यह पता चला है कि कोएनोफ्लैजिलेट में भी कुछ ऐसी प्रक्रियाएं होती हैं जिनके बारे में अब तक ऐसा लगता था कि ये सिर्फ बहुकोशिकीय जीवों में ही होती हैं। इनमें कोशिकाओं के बीच संदेशों का आदान-प्रदान, कोशिका से कोशिका के चिपकने की प्रवृत्ति वगैरह शामिल हैं।

त्रुटि-सुधार

समय के साथ जंतु कोशिकाएं क्रियाशील ऑक्सीजन मूलक (आरओएस) नामक अणु अधिक मात्रा में बनाने के लिए विकसित हुईं, ये अणु कई आवश्यक कोशिकीय गतिविधियों के लिए ज़रूरी होते हैं लेकिन इनका उच्च स्तर विषाक्तता पैदा करता है। आरओएस प्रतिरक्षा, तनाव प्रतिक्रिया और परिवर्धन जैसी प्रक्रियाओं में संकेतक अणु की एक महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। इसके अलावा अधिक जटिलता के लिए ज़रूरी होता है कि जंतु के जीनोम के आकार में भी पर्याप्त वृद्धि हो। इसके साथ कोशिका में सभी कार्यों में भी वृद्धि होती है, जैसे डीएनए (विभिन्न अंगों की कोशिकाओं में मौजूद आनुवंशिक सामग्री), उसको संदेशवाहक आरएनए (mRNA) के रूप में लिप्यांतरित करना, और फिर tRNA की मदद से इन्हें कोशिकाओं में विशिष्ट प्रोटीन बनाने वाले अमीनो एसिड अनुक्रम में बदलना। tRNA की इस बढ़ी हुई संख्या (किसी सामान्य सूक्ष्मजीव में लगभग 50 से लेकर जंतुओं में सैकड़ों) का मतलब यह हुआ इन्हें कम से कम गलतियों के साथ सावधानीपूर्वक चुना जाना ज़रूरी है।



यदि प्रोटीन के स्तर पर आनुवंशिक कोड की गलत व्याख्या हो जाए तो यह गलती कार्यात्मक विकार और रोगों को जन्म देगी। (उदाहरण के लिए, सही अमीनो एसिड के स्थान पर, एक 'गलत' अमीनो एसिड आ जाने से प्रोटीन की आकृति, आकार या घुलनशीलता बदल सकती है जिसके कारण लायनस पौलिंग के शब्दों में 'आणविक रोग' हो सकते हैं। यदि हीमोग्लोबिन में एक एमिनो एसिड बदल जाए तो एनीमिया हो सकता है। और यदि आंख के लेंस के प्रोटीन में एक गलत एमिनो एसिड आ जाए तो मोतियाबिंद हो सकता है।) गलत अमीनो एसिड वाला प्रोटीन बनने से रोकने के लिए कोशिकाओं में ऐसे एंजाइम होते हैं जो गलत अमीनो एसिड को हटाने में मदद करते हैं। हैदराबाद स्थित सेंटर फॉर सेल्यूलर एंड मॉलीक्यूलर बायोलॉजी के राजन शंकरनारायणन और उनके साथियों का हालिया शोध, जंतु कोशिकाओं में एंजाइम की मदद से प्रूफ-रीडिंग के इसी पहलू पर केंद्रित है। यह शोध *ईलाइफ़* पत्रिका के 28 मई, 2020 के अंक में प्रकाशित हुआ है। (*जीनोमिक नवाचार ATD जीव जगत में बहु-कोशिकता में होने वाले गलत रूपांतरणों को कम करता है*, DOI: <https://doi.org/10.7554/eLife.58118>)।

इस शोध के दिलचस्प शीर्षक ने मुझे डॉ. शंकरनारायणन से बात करने को उकसाया। उन्होंने मुझे जो समझाया वही यहां बता रहा हूं। उनके समूह को ATD नामक एक ऐसा जंतु विशिष्ट प्रूफ-रीडिंग एंजाइम मिला था जो थ्रेओनिन (T) नामक एमिनो एसिड के वाहक tRNA से (गलत) एमिनो एसिड एलेनिन (A) को हटा देता है। इस तरह सही प्रोटीन संश्लेषण बहाल होता है और कोशिका सामान्य तरीके से कार्य करती रहती है। वे आगे बताते हैं कि जंतु कोशिकाओं में ThrRS नामक एक अन्य एंजाइम भी होता है जो ATD की तरह ही कार्य करता है, लेकिन कोशिकाओं में उच्च आरओएस स्तर होने पर यह एंजाइम अपनी क्षमता खो देता है। जबकि ATD एंजाइम कोशिकाओं में आरओएस का उच्च स्तर होने पर भी सक्रिय बना रहता है।

शोधकर्ताओं द्वारा प्रयोगशाला में, मानव गुर्दे की कोशिकाओं और चूहों के भ्रूणीय स्टेम कोशिकाओं पर इन परिणामों की पुष्टि की गई थी। नई जीनोम एडिटिंग तकनीक, CRISPR-Cas9, का उपयोग करके कोशिकाओं से यह जीन हटाया गया, जिससे समूचा प्रोटीन गलत संश्लेषित हुआ और परिणामस्वरूप कोशिका की मृत्यु हो गई। और खास बात यह रही कि वे उपरोक्त परिघटना के पीछे के आणविक कारण को भी पहचान सके।

वे बताते हैं कि वास्तव में कि ATD रहित कोशिकाओं में थ्रेओनिन के स्थान पर कई जगह एलेनिन रख कर प्रोटीन बनाने की गलती हुई थी। शोधकर्ता अब आरओएस के उच्च स्तर वाले ऊतकों, जैसे वृषण और अंडाशय में ATD की विशिष्ट भूमिका की जांच करना चाहते हैं। शोधकर्ता बताते हैं कि जंतुओं में प्रोटीन के गलत संश्लेषण की समस्या के लिए ज़िम्मेदार tRNA के विशेष समूह की बढ़ी हुई संख्या से एक संभावना यह बनती है कि इनमें प्रोटीन संश्लेषण के अलावा अन्य कोई कार्य करने क्षमता भी विकसित हो सकती है। जैसे एपिजेनेटिक्स, प्रोग्राम्ड सेल डेथ (एपोप्टोसिस) और प्रजनन क्षमता भी। इनका विस्तार से परीक्षण करना उपयोगी हो सकता है।

विकास को आकार देना

अंत में एक सवाल यह उठता है कि क्या कोएनोफ्लैजिलेट जंतु मॉडल में प्रूफ-रीडर ATD मौजूद होता है और क्या यह इसी तरह काम करता है? इसका जवाब हां है, जैसा कि कुंचा और उनके साथी लिखते हैं: 'एटीडी एक ऐसा एंजाइम है जो केवल जंतुओं में पाया जाता है। ... आगे के अध्ययन में यह पता चला है कि ATD की उत्पत्ति लगभग 90 करोड़ साल पहले, कोएनोफ्लैजिलेट्स और जंतुओं के विकास के अलग-अलग दिशा में आगे बढ़ने के पहले, हुई थी। इससे लगता है कि इस एंजाइम ने जंतुओं के विकास को आकार देने में मदद की होगी।' दूसरे शब्दों में कहें तो, ये स्पंज सरीखे एक-कोशिकीय जीव पृथ्वी के सभी जंतुओं के पूर्वज हैं, जिनमें हम मनुष्य भी शामिल हैं। कितना सादगीभरा विचार है!

तो पेड़-पौधों के बारे में क्या कहेंगे? वह एक अलग कहानी है। (*स्रोत फीचर्स*)

डॉल्फिन साथियों से सीखती हैं शिकार का नया तरीका

लगभग दस साल पहले पश्चिमी ऑस्ट्रेलिया की शार्क बे में वैज्ञानिकों का ध्यान बॉटलनोज डॉल्फिन (*Tursiops aduncus*) के विचित्र व्यवहार की ओर गया था। उन्होंने देखा कि ये डॉल्फिन किसी मछली को विशाल घोंघों की खाली खोल के अंदर ले जाती हैं। जब मछली खोल के अंदर चली जाती है तो डॉल्फिन खोल को समुद्र की सतह पर लाती हैं और उसे ज़ोर-ज़ोर से हिलाती हैं जिससे मछली सीधे उनके खुले हुए मुँह में गिरती हैं। शिकार के इस तरीके, जिसे शेलिंग कहते हैं, से उन्हें निश्चित तौर पर भोजन मिलता है। और अब



करंट बायोलॉजी में शोधकर्ता बताते हैं कि डॉल्फिन शिकार के लिए घोंघे की खोल का इस्तेमाल करने की तकनीक अपने दोस्तों से सीखती हैं।

बॉटलनोज डॉल्फिन द्वारा किसी खोल का उपयोग करना औज़ार के उपयोग का एक उदाहरण है। औज़ार की मदद से शिकार करने का उनका यह दूसरा ज्ञात उदाहरण है। 1997 में देखा गया था कि बॉटलनोज डॉल्फिन समुद्र के पेंदे में मछली पकड़ने के लिए समुद्री स्पंज को अपनी चोंच के ऊपर सुरक्षात्मक दरताने जैसे पहनती हैं।

वैसे तो वैज्ञानिकों ने शेलिंग का अवलोकन 10 साल पहले किया था लेकिन इस व्यवहार में वृद्धि 2011 में पश्चिमी ऑस्ट्रेलिया में आई एक असामान्य समुद्री ग्रीष्म लहर के बाद देखी गई थी। बढ़े हुए तापमान के कारण समुद्री घोंघों सहित कई जीवों की मृत्यु हो गई। संभवतः डॉल्फिन ने घोंघों की इस मृत्यु का लाभ उठाया। इस घटना के अगले साल शेलिंग में ज़बर्दस्त वृद्धि देखी गई थी। इसने मैक्स प्लांक इंस्टीट्यूट ऑफ एनिमल बिहेवियर की सोन्जा वाइल्ड और उनके साथियों को यह पता लगाने को प्रेरित किया कि युवा डॉल्फिन शेलिंग सीखती कैसे हैं।

2007-2018 के बीच खाड़ी सर्वेक्षण के दौरान शोधकर्ताओं का लगभग 5300 डॉल्फिन समूहों से सामना हुआ और जिसमें उन्होंने 1000 से अधिक डॉल्फिन की पहचान की। 19 ऐसी डॉल्फिन भी दिखाईं जो तीन आनुवंशिक वंशावली की थीं और 42 बार शेलिंग करते हुए पाई गई थी।

यह जानने के लिए कि डॉल्फिन यह तकनीक कैसे सीखती हैं शोधकर्ताओं ने सामाजिक नेटवर्क विश्लेषण किया। जिसमें उन्होंने आनुवंशिक सम्बंधों, पर्यावरणीय कारकों और डॉल्फिन किन जानवरों के साथ समय बिताना पसंद करती है का विश्लेषण किया। उन्होंने पाया कि शेलिंग मां से सीखने की बजाए अपने मित्रों या साथियों से सीखा जाता है। वाइल्ड बताती हैं कि शेलिंग वयस्क डॉल्फिन करती हैं। जितना अधिक समय युवा डॉल्फिन किसी निपुण शेलर के साथ बिताती हैं उसके तकनीक सीखने की संभावना उतनी ही अधिक होती है।

फिर भी, चूंकि शिशु डॉल्फिन अपनी माताओं के साथ लगभग 30,000 घंटों से अधिक समय बिताते हैं, तो यह भी एक संभावना हो सकती है कि कुछ डॉल्फिन ने यह तकनीक अपनी मां से सीखी हो। ऐसा माना जाता है कि शेलिंग जैसे कौशल किसी असम्बंधित सदस्य से सीखने के लिए अधिक संज्ञानात्मक क्षमता की ज़रूरत होती है क्योंकि सीखने वाले और सिखाने वाले, दोनों को 'सामाजिक रूप से सहिष्णु' होना ज़रूरी है - विशेषकर शिकार के समय।

ये नतीजे बदलते पर्यावरण का सामना कर रही डॉल्फिन के अस्तित्व के लिए आशाजनक हो सकते हैं। जैसे पक्षियों की कुछ नवाचारी प्रजातियां नए आवास तलाशने में बेहतर होती हैं, उसी तरह हो सकता है कि शिकार के इस तरीके को अपना कर डॉल्फिन की संख्या और विविधता भी बढ़ जाए। (स्रोत फीचर्स)

घोड़ों के पक्षपाती चयन की जड़ें प्राचीन समय में

घोड़ों के बारे में भी कई मिथक हैं। जैसे कई घुड़सवार कहते हैं कि वे 'तुनकमिजाज़' घोड़ी की बजाय 'अनुमान योग्य' बधिया घोड़े परसंद करते हैं, जबकि वास्तव में दोनों के व्यवहार में कोई अंतर नहीं होता। और अब *जर्नल ऑफ आर्कियोलॉजिकल साइंस* में प्रकाशित एक नया अध्ययन बताता है कि संभवतः घोड़ों के प्रति हमारे पक्षपाती विचारों की जड़ें प्राचीन समय में हैं। सैकड़ों प्राचीन घोड़ों के कंकालों के डीएनए विश्लेषण के आधार पर शोधकर्ताओं का कहना है कि कांस्य युगीन युरेशियाई लोग नर घोड़ों को वरीयता देते थे।

संभवतः मनुष्य ने घोड़ों को पालतू बनाने का काम युरेशियन घास के मैदानों पर लगभग 5500 साल पहले किया था। उससे पहले शायद वे घोड़े का शिकार भोजन के लिए करते थे। शोधकर्ताओं को मनुष्यों के हजारों साल पुराने आवास स्थलों के पास से बड़ी संख्या में घोड़े दफन मिले थे। लेकिन सिर्फ हड्डियों को देखकर घोड़े के लिंग का पता लगाना मुश्किल था।

इसलिए पॉल सेबेटियर विश्वविद्यालय के पुरा-जीनोम वैज्ञानिक एन्तोन फेजेस और उनके साथियों ने 268 प्राचीन घोड़ों की हड्डियों के डीएनए का विश्लेषण किया। ये हड्डियां लगभग 40,000 ईसा पूर्व से 700 ईसवीं के दौरान की थीं जो युरेशिया के विभिन्न पुरातात्विक स्थलों से बरामद हुई थीं। इनमें से कुछ घोड़ों को सोदेश्य दफनाया गया था, जबकि शेष अन्य को ऐसे ही कचरे के ढेर में छोड़ दिया गया था।

अध्ययन में शोधकर्ताओं को सबसे प्राचीन स्थलों पर मादा घोड़ों और नर घोड़ों की संख्या में संतुलन देखने को मिला जिससे लगता है कि शुरुआती युरेशियन मनुष्य दोनों लिंग के घोड़ों का समान रूप से शिकार करते थे। यहां

तक कि बोटाई शिकारी-संग्रहकर्ता समुदाय, जो लगभग 5500 साल पहले मध्य एशिया में घोड़ों को पालतू बनाने वाले प्रथम लोग थे, भी घोड़ों के किसी एक लिंग को प्राथमिकता नहीं देते थे।

लेकिन लगभग 3900 साल पहले घोड़ों के चयन में भारी बदलाव आया। इस समय के बाद से, युरेशिया की कई संस्कृतियों की पुरातात्विक खोज में काफी संख्या में नर घोड़े मिले। मादा घोड़ों की तुलना में नर घोड़ों की संख्या तीन गुना अधिक थी। इनमें दोनों तरह के घोड़े थे - जिन्हें सोदेश्य दफनाया गया था या यूं ही कचरे के ढेर में छोड़ दिया गया था। लेकिन नर घोड़े ही बहुतायत में क्यों? फेजेस का कहना है कि सामाजिक और टेक्नॉलॉजिकल परिवर्तनों के कारण मनुष्यों में एक खास 'लिंग' के प्रति झुकाव हुआ।

कांस्य युगीन कलाकृतियों में हमेशा पुरुषों को महिलाओं से अलग तरीके से विभूषित, चित्रित किया गया, और दफन किया गया है। जबकि ऐसा व्यवहार इसके पूर्व नवपाषाण युग में नहीं दिखाई देता। कई शोधकर्ता इन संकेतों की व्याख्या इस तरह करते हैं कि दूरस्थ जगहों पर व्यापार करने और धातु उत्पादन ने पुरुषों का वर्चस्व बढ़ाया जिसके कारण नई सामाजिक व्यवस्था बनी। जैसे-जैसे धातुकर्मियों, योद्धाओं और शासकों के बीच वर्ग विभाजन हुआ, पुरुषों और महिलाओं के बीच भेद भी बढ़ा। यदि समाज अधिक पुरुष-पक्षी हो तो संभव है कि वे इस तरह की धारणाओं को अपने वफादार घोड़ों पर भी लागू करेंगे - और मानने लगेंगे कि नर घोड़े अधिक शक्तिशाली या सक्षम होते हैं।

कुछ शोधकर्ताओं का कहना है कि एक संभावना यह भी हो सकती है कि मादा घोड़ों को प्रजनन के उद्देश्य से जीवित रखा गया हो और नर घोड़ों को छोड़ दिया गया हो जिसके कारण वे अधिक दिखाई देते हैं - खासकर प्राचीन कचरे के ढेरों में। इस पर फेजेस कहते हैं कि यदि ऐसा है तो (नदारद) मादा घोड़ों के अवशेष मानव बस्तियों के आसपास कहीं तो मिलना चाहिए, लेकिन वैज्ञानिक अब तक उन्हें खोज नहीं पाए हैं। (*स्रोत फीचर्स*)



खतरनाक डॉयाक्सीन के बढ़ते खतरे

डॉ. ओ. पी. जोशी

डॉयाक्सीन अत्यंत विषैले रसायनों का समूह है। इन्हें उन खतरनाक मानव निर्मित रसायनों में शामिल किया गया है जिनकी सक्रियता रेडियो सक्रिय पदार्थ के बाद दूसरे नंबर पर आती है।

डॉयाक्सीन पर हमारा ध्यान इटली के सेवासो कस्बे में 10 जुलाई 1976 को एक कारखाने में हुए विस्फोट ने आकर्षित किया था। इससे डॉयाक्सीन आसपास के वातावरण में फैल गया था। इसके विषैले प्रभाव से हजारों पशु-पक्षी मारे गए थे। मनुष्यों में भी एक चर्म रोग फैला था जो लंबे समय तक उपचार के बाद ठीक हुआ। बाद में कैंसर एवं हृदय रोग के भी कई प्रकरण सामने आए। प्रारंभ में गर्भवती महिलाओं एवं बच्चों पर कोई विशेष प्रभाव तो नहीं देखा गया था परंतु बाद में नर बच्चों की जन्म दर काफी घट गई थी। अमरीका की पर्यावरण सुरक्षा एजेंसी ने वहां की ज्यादातर जनता को डॉयाक्सीन से प्रभावित बताया था। डॉयाक्सीन के प्रभावों में कैंसर, चर्म रोग, प्रतिरोध क्षमता में कमी, तंत्रिका तंत्र पर प्रतिकूल प्रभाव एवं मृत शिशुओं का जन्म प्रमुख हैं।

रासायनिक दृष्टि से डॉयाक्सीन क्लोरीन युक्त हाइड्रोकार्बन हैं जो काफी टिकाऊ होते हैं तथा कीटनाशी डीडीटी के समान वसा में घुलनशील होते हैं। इस घुलनशीलता के कारण ये भोजन शृंखला में प्रवेश कर वसायुक्त अंगों में एकत्र होते रहते हैं।

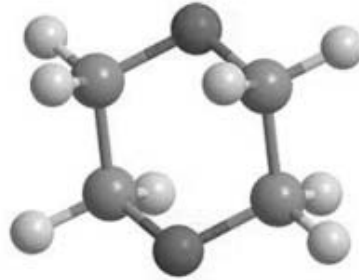
अभी तक इनकी कोई सुरक्षित सीमा निर्धारित नहीं है परंतु स्वास्थ्य पर इनका प्रभाव चंद्र अंश प्रति ट्रिलियन (यानी 10 खरब अंशों में एक अंश) सांद्रता पर ही देखा गया है। हमारे वायुमंडल में 95 प्रतिशत डॉयाक्सीन उन भस्मकों (इंसीनरेटर्स) से आते हैं जिनमें क्लोरीन युक्त कचरा जलाया जाता है। कागज़ के उन कारखानों से भी इनका प्रसार होता है जो ब्लिचिंग कार्य में क्लोरीन का उपयोग

करते हैं। कई शहरों में सफाई के नाम पर अवैध रूप से कचरा जलाने में भी डॉयाक्सीन पैदा होते हैं, क्योंकि कचरे में प्लास्टिक एवं पीवीसी के अपशिष्ट भी होते हैं।

पिछले 50 वर्षों में क्लोरीन युक्त रसायनों व प्लास्टिक का निर्माण एवं उपयोग काफी बढ़ा है। रसायनों में कीटनाशी व शाकनाशी तथा प्लास्टिक में पीवीसी की वस्तुएं प्रमुख हैं। वाहनों के सीटकवर, टेलीफोन-बिजली के तार, शैम्पू की बॉटल, बैग, पर्स, सेनेटरी पाइप, वॉलपेपर एवं कई अन्य वस्तुएं पीवीसी से ही बनती हैं। इन सभी के निर्माण के समय एवं उपयोग के बाद कचरा जलाने से डॉयाक्सीन का जहर फैलता है।

जलने के दौरान पैदा डॉयाक्सीन वायुमंडल में उपस्थित महीन कणीय पदार्थों के साथ सैकड़ों किलोमीटर दूर तक फैल जाते हैं। फसलों एवं अन्य पौधों की पत्तियों तथा भूमि पर जमा होकर फिर ये शाकाहारी एवं मांसाहारी प्राणियों से होते हुए अंत में मानव शरीर में एकत्र होने लगते हैं। मानव शरीर में ज्यादातर डॉयाक्सीन दूध, मांस व अन्य डेयरी पदार्थों के ज़रिए पहुंचते हैं।

जापान के स्वास्थ्य व कल्याण मंत्रालय ने कुछ वर्ष पूर्व महिलाओं के दूध का अध्ययन कर बतलाया था कि महिलाएं जैसे-जैसे दूध व अन्य डेयरी पदार्थों का उपयोग बढ़ाती हैं वैसे-वैसे उनके दूध में डॉयाक्सीन की मात्रा बढ़ती जाती है। भस्मकों के आसपास के क्षेत्र में रहने वाली महिलाओं में इनकी मात्रा ज्यादा आंकी गई। *ब्रिटिश जर्नल ऑफ कैंसर* में प्रकाशित एक रिपोर्ट के अनुसार नगरीय निकायों का कचरा जलाने वाले भस्मकों के आसपास सात किलोमीटर के क्षेत्र में बसे रहवासियों में डॉयाक्सीन के कारण कई प्रकार के कैंसर होने की संभावना बढ़ जाती है। भस्मकों की चिमनी से निकले धुंए में कैंसरजन्य



रसायनों के साथ भारी धातुएं, अम्लीय गैसों, अधजले कार्बनिक पदार्थ, पॉलीसायक्लिक हाइड्रोकार्बन्स तथा फ्यूरॉन एवं डॉयाक्सीन की उपस्थिति भी वैज्ञानिकों ने दर्ज की है। दुनिया में कई स्थानों पर, डॉयाक्सीन की मात्रा बढ़ने से गांव व शहर खाली भी कराए गए हैं। इनमें लवकेनाल (नियाग्रा फॉल), टाइम्स बीच (मिसोरी), पैसाकोला (फ्लोरिडा) व मिडलैंड शहर प्रमुख हैं।

वर्ष 2002 में *एंवायरमेंटल साइंस एंड टेक्नॉलॉजी* पत्रिका में प्रकाशित रिपोर्ट में बताया गया था कि डॉयाक्सीन का प्रदूषण भारत में भी बहुत है। मनुष्य, डॉल्फिन, मुर्गा, मछली, बकरी एवं मांसाहारी पशुओं में इसकी उपस्थिति आंकी गई थी। पक्षियों में सर्वाधिक 1800 तथा गंगा की डॉल्फिन में 20-120 पीपीजी (पिकोग्राम प्रति ग्राम) का आकलन किया गया था। पर्यावरण एवं वन मंत्रालय के तत्कालीन सचिव ने भी इसे स्वीकारते हुए कहा था कि देश में डॉयाक्सीन की व्यापकता अनुमान से अधिक है। कम्यूनिटी एंवायरमेंटल मॉनीटरिंग ने *स्मोक स्कैन* नाम से एक रिपोर्ट लगभग 15 वर्ष पूर्व जारी की थी। इसमें देश के 13 स्थानों पर हवा के नमूनों में 45 जहरीले रसायनों की उपस्थिति बतलाई थी। केरल के एक औद्योगिक क्षेत्र में एक रसायन हेक्साक्लोरो ब्यूटाडाइन की पहचान की गई थी जो डॉयाक्सीन का

निर्माण करता है।

देश में डॉयाक्सीन की मात्रा पश्चिमी देशों द्वारा दिए गए घटिया तकनीक के भस्मकों तथा क्लोरीन आधारित उद्योगों के कारण बढ़ी है जिनमें पीवीसी, पल्प व कागज़ तथा कीटनाशी कारखाने प्रमुख हैं। खुलेआम प्लास्टिक युक्त कचरा जलाना भी इसकी मात्रा बढ़ा रहा है। डॉयाक्सीन से पैदा प्रदूषण पर ध्यान दिया जाना ज़रूरी है, अन्यथा यह स्वास्थ्य का नया संकट पैदा करेगा। केंद्र सरकार ने 2009 में कई प्रदूषणकारी पदार्थों की मात्रा व स्तर में संशोधन कर कुछ नए प्रदूषणकारी पदार्थ शामिल किए हैं परंतु इसमें डॉयाक्सीन नहीं है।

भस्मकों में कचरा जलाए जाने से पैदा डॉयाक्सीन के प्रदूषण के कारण अब दुनिया के कई देशों में इसके विरुद्ध ना केवल आवाज़ उठाई जा रही है अपितु ये बंद भी किए जा रहे हैं। वर्ष 2002 में ज़्यादा डॉयाक्सीन उत्सर्जन के कारण जापान में लगभग 500 भस्मक बंद किए गए थे। यू.के में 28 में से 23 भस्मक बंद किए गए एवं यू.एस.ए. में 1985 से 1994 के मध्य 250 भस्मकों की प्रस्तावित योजनाएं निरस्त की गईं। फिलीपाइंस में भस्मक लगाना प्रतिबंधित किया गया है। हमारे देश में भी इस संदर्भ में ध्यान देकर सावधानी बरतना ज़रूरी है। (*स्रोत फीचर्स*)

संक्रमण-रोधी इमारतें और ऊर्जा का उपयोग

जुबैर सिद्दिकी

कोविड-19 महामारी के परिणामस्वरूप सरकार द्वारा अनिवार्य सामाजिक दूरी का अनुपालन आने वाले समय में कार्यस्थल की ज़रूरतों और डिज़ाइन को प्रभावित करने वाला है। ऐसे में निर्माण उद्योग को कर्मचारियों के स्वास्थ्य और इन इमारतों की ऊर्जा दक्षता को ध्यान में रखते हुए एक 'न्यू नार्मल' पर विचार करना होगा। इसके कुछ मुख्य बिंदु इस प्रकार हैं:

1. सामाजिक दूरी

विशेष रूप से व्यावसायिक इमारतों में काम करने वाली कंपनियों से यह अपेक्षा की जाती है कि वे सामाजिक सुरक्षा के मानदंडों का पालन करें और किसी भी अनपेक्षित स्वास्थ्य

समस्या का सामना करने के लिए भी तैयार रहें। *इकॉनॉमिक टाइम्स* में प्रकाशित एक रिपोर्ट के अनुसार कई कंपनियों, विशेष रूप से आईटी कंपनियों, अपने खर्चों को कम करने के लिए प्रति कर्मचारी 60-80 वर्ग फुट जगह आवंटित करती हैं जबकि निर्धारित मानक 125 वर्ग फुट प्रति व्यक्ति है।

अभी मौजूदा कार्यालयों का विस्तार तो नहीं किया जा सकता लेकिन एक कुशल योजना और डिज़ाइन के साथ कुछ बेहतर उपाय अवश्य तलाश किए जा सकते हैं।

हालांकि सामाजिक दूरी के साथ कोई निश्चित या

स्थायी समाधान निकालने में समय लगेगा लेकिन विशेषज्ञों के अनुसार फिलहाल कंपनियां 30 प्रतिशत कर्मचारियों को रोटेशन में घर से काम करने की अनुमति देने का विकल्प अपनाएंगी। वर्तमान में कई जगह ऐसा किया भी जा रहा है। इसके लिए 'हॉट डेस्किंग' प्रणाली को भी अपनाया जा सकता है जिसमें एक ही मेज़ का उपयोग विभिन्न समय में अलग-अलग लोगों द्वारा किया जाता है। स्वास्थ्य, स्वच्छता और उत्पादकता की चुनौतियों के साथ कंपनियां कोशिश करेंगी कि वे अपने कार्यों को विकेंद्रीकृत करें ताकि कंटेनमेंट की स्थिति में भी काम की निरंतरता बनी रहे।

2. फिल्टरेशन

अभी इस विषय में कोई पर्याप्त अध्ययन तो नहीं है लेकिन ऐसा माना जाता है कि इमारतों में बाहरी हवा को अंदर लाने वाले विशिष्ट एयर फिल्टर एयरोसोल रूपी किसी भी हवाई वायरस को रोकने के लिए पर्याप्त हैं। कई इमारतों में फिल्टरेशन के बाद हवा का पुनःसंचरण किया जाता है। आम तौर पर पुनःसंचरण डक्ट में उपयोग किए जाने वाले फिल्टर वायरस को रोकने में कुशल नहीं होते हैं। यदि हाई एफिशिएंसी पार्टिकुलेट एयर (HEPA) फिल्टर का उपयोग किया जाए तो रोगजनकों को दूर तो किया जा सकता है लेकिन इसका ऊर्जा खर्च पर काफी अधिक बोझ पड़ता है। HEPA फिल्टर के साथ स्टैंड-अलोन एयर प्यूरीफायर भी काफी प्रभावी हो सकते हैं। ऐसे में विशेषज्ञों का मानना है कि इमारतों में वेंटिलेशन में सुधार करना अधिक फायदेमंद हो सकता है।

इसके अलावा, हवा में मौजूद बैक्टीरिया और वायरस से निपटने के लिए पैराबेंगनी प्रकाश का उपयोग किया जा सकता है। विशेष रूप से इनका उपयोग स्वास्थ्य सुविधाओं में लोगों की अनुपस्थिति में किया जाता है। ऐसे में इनका उपयोग भी सीमित अवधि के लिए ही होता है और ऊर्जा भी कम खर्च होती है।

3. ताज़ी हवा

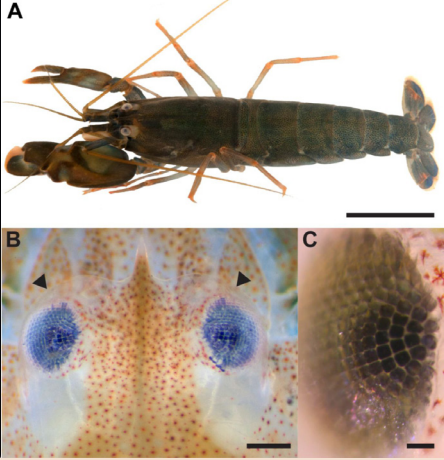
लगभग सभी विशेषज्ञों का मानना है कि किसी भी इमारत में संक्रमण को फैलने से रोकने का सबसे प्रभावी

तरीका ताज़ा हवा की मात्रा बढ़ाना है। फेडरेशन ऑफ यूरोपियन हीटिंग, वेंटिलेशन एंड एयर कंडीशनिंग एसोसिएशन (REHVA) भी इमारतों में हवा के पुनः संचरण का विरोध करता है। फेडरेशन काम शुरू होने के 2 घंटे पहले इमारतों में ताज़ा हवा संचारित करने का सुझाव देता है। शौचालय के लिए तो 24/7 वेंटिलेशन का सुझाव दिया जाता है। यदि इन उपायों को अपनाया जाता है तो कृत्रिम वेंटिलेशन वाली इमारतों में ऊर्जा की खपत में भारी वृद्धि होगी। यानी बाहर से आने वाली गर्म हवा को ठंडा करने में और अधिक समय लगेगा जो वेंटिलेशन के कारण निरंतर इमारत में प्रवेश करेगी। हालांकि प्राकृतिक रूप से हवादार इमारतें बिना किसी ऊर्जा खपत के आवश्यक बाहरी हवा प्रदान कर सकती हैं। फिर भी ऐसी इमारतों को ठंडा रखने पर विचार करने की आवश्यकता है।

4. तापमान और आर्द्रता

अधिकांश वायरसों के संक्रमण को एक विशेष तापमान और आर्द्रता पर सीमित किया जा सकता है, लेकिन कोविड-19 के लिए यह मान काफी अधिक (आपेक्षिक आर्द्रता 80 प्रतिशत या उससे अधिक और तापमान 30 डिग्री सेल्सियस से अधिक) होता है। यानी इस तापमान पर वायरस का संक्रमण थोड़ा कम हो जाता है और किसी सतह पर इसके जीवित रहने की संभावना भी कम हो जाती है। लेकिन संक्रमण को इस तरीके से नियंत्रित करना काफी मुश्किल व महंगा है।

जैसा कि वैज्ञानिकों और विशेषज्ञों का मानना है कि अब हमें इस वायरस के साथ ही रहना सीखना होगा। आईसीएमआर के अनुसार तो भारत में नवंबर माह में संक्रमण का पीक आने की संभावना है। ऐसे में कार्यस्थलों और घरों पर उन तरीकों को अपनाना होगा जिनसे हम सुरक्षित रह सकें। ज़मीनी स्तर पर कार्यस्थलों की मौजूदा रूपरेखा में बदलाव के लिए लगभग 4-6 महीने का समय तो लग ही जाएगा। कंपनियों को इसके लिए अतिरिक्त लागत की आवश्यकता भी हो सकती है। यह लागत काम की निरंतरता बनाए रखने के लिए आवश्यक है। (स्रोत फीचर्स)



एक झींगे की तेज़ गति वाली आंखें

एक मामूली माचिस की तीली जितने बड़े स्नैपिंग झींगे (*Alpheus heterochaelis*) अपने जबड़ों को झटके से बंद करके ऊंची आवाज़ निकालने के लिए मशहूर हैं। इस आवाज़ के कंपन से उनका शिकार या शत्रु भौंचक्का रह जाता है। इन्हें पिस्तौल झींगा भी कहते हैं। और अब शोधकर्ताओं ने जबड़ों की इस रफ्तार से मेल खाती उनकी दृष्टि की भी खोज की है।

अध्ययन में वैज्ञानिकों ने जीवित मगर ठंड से अचेत एक झींगे की आंख में एक पतला विद्युत चालक तार चिपकाया और झिलमिलाते प्रकाश के जवाब में आंखों से उत्पन्न होने वाले विद्युत आवेग को रिकॉर्ड किया। बायोलॉजी लैटर्स में प्रकाशित रिपोर्ट के अनुसार स्नैपिंग झींगा अपनी आंखों में दृश्य को एक सेकंड में 160 बार तरोताजा करता है।

पानी में रहने वाले जीवों में यह अब तक देखी गई सबसे अधिक दृश्य-नवीनीकरण दर है। कबूतरों में यह प्रति सेकंड 143 है और मनुष्यों में केवल 60 प्रति सेकंड। इस मामले में मात्र दिन में उड़ने वाले कीट ही स्नैपिंग झींगे को टक्कर दे सकते हैं। दृश्य-नवीनीकरण का मतलब होता है रेटिना पर से एक छवि को मिटाकर दूसरी छवि का बनना।

अर्थात जो वस्तु हमें और अन्य कशेरुकी जीवों को धुंधली नज़र आती है वे स्नैपिंग झींगे को अलग-अलग छवियों के रूप में नज़र आती है। कारण यह है कि हमारी आंखों पर यदि बहुत तेज़ गति से छवियां बदलें, तो एक के मिटने से पहले ही दूसरी बनने लगती है, जिसके परिणामस्वरूप वे एक-दूसरे में व्यवधान पैदा करती हैं।

हाल तक शोधकर्ताओं का मानना था कि स्नैपिंग झींगे को अच्छे से दिखाई नहीं देता होगा क्योंकि उनके ऊपर कठोर हुड होता है जो उनकी आंखों को ढंके रहता है। यह हुड पारभासी होता है लेकिन यह स्पष्ट नहीं था कि यह प्रकाश को कितनी अच्छी तरह से पार जाने देता है। अब इस अध्ययन से यह पता चला है कि एक तेज़ शिकार पर हमला करना या फिर खुद शिकार होने से बचना इस झींगे के लिए कोई मुश्किल काम नहीं है। यह उनके लिए काफी महत्वपूर्ण भी है क्योंकि वे मटमैले पानी में रहते हैं जहां शिकारी का पता लगाना काफी मुश्किल होता है।
(स्रोत फीचर्स)

चंद्रमा की गति : प्रयोग

सूरज, चांद, तारे हमेशा से कौतूहल का विषय रहे हैं। हर सभ्यता में लोगों ने इनका अवलोकन करके पैटर्न बनाने की कोशिश की है। सदियों से लोग परछाइयों दे खकर समय का अनुमान लगाने की कोशिश करते रहे हैं क्योंकि परछाई से अंदाज़ लगाया जा सकता है कि आकाश में सूरज कहां है। एक छड़ी की मदद से हम सूरज की गति का अच्छा अंदाज़ लगा सकते हैं। यूनान में एरेटोस्थनीज नामक वैज्ञानिक ने तो एक छड़ी की मदद से घर बैठे पृथ्वी को नाप लिया था। तो छड़ी के कुछ प्रयोग आप भी करें। अगले कुछ अंकों में हम आकाश की टोह लेने के ऐसे कुछ आसान प्रयोग सुझाएंगे, जिन्हें करके मज़ा भी आएगा और शायद समझ भी बढ़े।

चंद्रमा की कलाओं से तो हम सभी परिचित हैं। चौदहवीं का चांद, दूज का चांद, ईद का चांद वगैरह उपमाएं इन्हीं कलाओं के आधार पर बनी हैं। त्यौहार की तिथियां भी तो चंद्रमा की कला से ही तय होती हैं। जहां आकाश में सूरज की आकृति गोल की गोल ही रहती है वहीं चांद की आकृति रोज बदल जाती है। लेकिन चंद्रमा की आकृति बदलती क्यों है।

इसे देखने के लिए एक प्रयोग कर सकते हैं। प्रयोग शाम के लगभग चार बजे करना बेहतर रहेगा। एक गेंद को सफेद कपड़े में कसकर लपेट लीजिए। इसे चांद मान लें। गेंद को आंख की सीध में पकड़कर धूप में रखकर धीरे-धीरे घूमिए। गेंद के उजले (जिस पर धूप पड़ रही है) भाग की आकृति कैसी बदलती दिखाई पड़ती है। आप देखेंगे कि हर स्थिति में गेंद के आधे भाग पर धूप पड़ती है। इसके बावजूद उजले भाग की आकृति अलग-अलग स्थिति में अलग-अलग दिखाई पड़ती है।

सूर्य की किरणें पड़ने से चंद्रमा का आधा हिस्सा हमेशा प्रकाशित रहता है। परंतु पृथ्वी से पूरा का पूरा प्रकाशित भाग हमेशा हमें दिखाई नहीं पड़ता। कभी-कभी हमें प्रकाशित भाग पूरा दिखाई पड़ता है, कभी उसका सिर्फ एक हिस्सा दिखाई पड़ता है और कभी बिलकुल दिखाई नहीं पड़ता। चंद्रमा के उजले भाग की आकृति हमें कैसी दिखाई पड़ेगी यह इस बात पर निर्भर है कि उजले भाग का कितना हिस्सा हमें दिखाई पड़ता है।

जैसे अमावस्या के दिन भी चंद्रमा का आधा भाग प्रकाशित तो होता है पर हमें वह प्रकाशित भाग कतई दिखाई नहीं पड़ता। यदि आप गेंद को सूर्य की दिशा में रखेंगे तो इस स्थिति में गेंद का जो हिस्सा प्रकाशित होगा वह हमसे दूसरी तरफ होगा।

पूर्णिमा के दिन स्थिति बिलकुल उल्टी हो जाती है। चंद्रमा का प्रकाशित भाग हमारी ओर ही रहता है और हमें पूरा गोल चंद्रमा दिखाई पड़ता है।

क्या आप सोच सकते हैं कि पूर्णिमा और अमावस्या के दिन सूरज, चांद और पृथ्वी की एक-दूसरे के सापेक्ष स्थितियां क्या होंगी?